अंधेरे के आलोक पुत्र

नर्मदा प्रसाद उपाध्याय

श्री बेनीमाधव प्रकाशन गृह

हरदा, मध्य प्रदेश

अपनी अम्मा (दादी) श्रीमती सावित्री देवी उपाध्याय को

जिन्होंने

इस संसार में मेरे आते ही पहिले पहल पलकों को खोलकर

मेरी आँखों की पुतलियों को यह जगत दिखाते हुए कहा,

"देखो री! जा संसार में सब जने एक से हैं।

इन निबंधों के बारे में.....

अगले पृष्ठों पर जो निबंध हैं वे खुद बोलेंगे तो फिर क्या ज़रूरत कि उनके बारे में अलग से कुछ कहा जाए। लेकिन मैं ज़रूरत महसूस करता हूँ इसलिये कि जो खुद बोलता है वह अपने बारे में या तो बहुत ज़्यादा बताता है या बिलकुल नहीं बतलाता। दोनों ही सीमान्त स्थितियां है जो नहीं होनी चाहिये। इसलिये बहुत थोड़े में इन अगले पृष्ठों के वक़्ताओं के बारे में कुछ कहूंगा।

ये निबंध कोई साहित्यिक या धार्मिक क़िस्म के निबंध नहीं हैं, यों इनकी शैली मेरे ललित निबंधकार होने के कारण ज़रूर साहित्यिक कही जा सकती है। ये निबंध अलग–अलग अवसरों पर लिखे गए हैं, ख़ासकर उन स्मरण अवसरों पर जब हम इन निबंधों के नायकों को याद करते हैं। ये निबंध उन ऐतिहासिक व्यक्तित्वों के अवदान को रेखांकित करते हैं जिनके आसपास हमारे विभिन्न धर्मों से जुड़ी आस्थाएँ केन्द्रित हैं। हमारा दुर्भाग्य यह है कि धर्म की व्यंजना में हम नहीं जा पाए, जा पाए तो पंथों तक, संप्रदायों तक, इनसे जुड़े पाखण्डों तक और एक कसैली सांप्रदायिकता तक जिसकी वजह से वह सब टूट गया जिसे इन युगपुरूषों ने अपनी कर्मण्यता से बनाया था। इन युग पुरूषों ने जो किया, जो कहा उसे अपने आचरण में न संजो पाने की पौरूषहीनता के कारण ये ऐतिहासिक व्यक्तित्व ईश्वर बना दिए गए, या इतने महान कि हम यह मान बैठे कि हम तो इनके जैसे हो नहीं सकते इसलिए इन्हें पूज लो, इनका आशीर्वाद हमारा जीवन धन्य कर देगा। ये सच्चे मनुष्य थे लेकिन हमने इन्हें सहज मनुष्यता से दूर कर एक कल्पनामय आधारहीन गरिमा के ऐसे आवरण में लपेट दिया कि इनकी सहज मनुष्यता और अदभुत कर्मण्यता हमारी आंखों के सामने से ही ओझल हो गई और जिसका परिणाम यह है कि जिन पाखण्डों के निषेध के रूप में ये महानायक खड़े हुए अब इन्हीं पाखण्डों और आडम्बरों के बीच ये प्राणहीन पाषाण की तरह खड़े हैं।

इन निबंधों के नायकों के स्वर एक से हैं, भले स्वरूप भिन्न हों। मृदंग, बांसुरी और वीणा के स्वरूप भिन्न हो सकते हैं लेकिन सा, रे, गा, मा, तो एक जैसे निकलेंगे ही। हमारी मुश्किल यह रही कि हम इन्हें इनके स्वरूप से पहिचानने लगे और इनके स्वरों की ध्वनि स्वरूपों के यशोगानी शोर में खो गई।

इन निबंधों को पुस्तकाकार रूप में रखने की चेष्टा भी इसीलिए की क्योंकि यह अनुभव किया कि आज के प्रसंग में यह बेहद ज़रूरी है कि इन सारे युग पुरुषों के मूल स्वरों को हम एक साथ सुन सकें, स्वरूप को लेकर मच रहे शोर की निरर्थकता से परिचित हो सकें, उस अंधे उन्माद से मुक्त हो सकें जो असमय जाने कितने निर्दोष प्राणों की बलि ले लेता है, इन कर्म पुरुषों के नाम पर फैलाई जा रही सांप्रदायिकता के कारण, संकीर्णता के कारण, अपने निजी और संकुचित स्वार्थों के कारण।

इन निबंधों में न तो कोई विशाल जीवन यात्राएँ संजोई गई हैं न ही गूढ़ दर्शन। इन सबका आख्यान तो जाने कब से होता आ रहा है। इनमें तो सिर्फ उनकी कर्मयात्रा का सहज

चित्रण और विश्लेषण है जो शायद हमारे वर्तमान चिंतन पर पड़ी संकीर्णता की धूल भरी परत झाड़ सके, एक हद तक हमें प्रेरित कर सके ताकि अपने आसपास खड़ी की गई दीवारों को हम तोड़ सकें और निष्कलुष होकर वर्गभेद, धर्मभेद और जातिभेद जैसे तमाम भेदों को भुलाकर निश्छल मन से एक दूसरे के गले मिल सकें, एकात्म हो इस देश की बिखरती अस्मिता को फिर से उसका मौलिक और उदार स्वरूप लौटा कर दे सकें, और पूरे समर्पण भाव के साथ आकंठ उस धर्म की धारा के बीच अपने आपको डुबो सकें जो इन दीप पुरूषों के उत्स से एक उज्जवल कर्म और स्निग्ध मर्म की धारा के रूप में फूटी तथा जिस धारा का उजास भरा, मर्म भरा, पारदर्शी जल ही हमारे आज के विषम संदर्भों का सच्चा समाधान और विकल्प है।

इसी जल में डूब कर नहा लेना और इस जल जैसे ही जीवन्त को उठने की ओर यदि ये निबंध थोड़ा बहुत भी प्रेरित कर पाए तो मैं समझूँगा हमने इन पुरूषों, सच्चे अर्थों में कर्म पुरुषों और मर्म पुरूषों को उनके सच्चे परिप्रेक्ष्य में याद कर लिया।

इस संग्रह के इस रूप में आने के लिए मेरे बहुत से आत्मीय जन ज़िम्मेदार हैं उनके प्रति आभार की औपचारिकता निभाना ज्यादती होगी क्योंकि वे सब मुझसे और मैं उनसे कुछ ऐसे जुड़े हैं कि उनका नामोल्लेख इस जुड़ाव को, आत्मीय जुड़ाव को कहीं तोड़ न दे इसलिए मैं इस जोखिम भरे यत्न से अपने आपको दूर रखता हूँ। लेकिन अंत में भाई शतानन्द श्रोत्रिय का स्मरण बहुत आ रहा है क्योंकि उन्होंने इन निबंधों के शब्द शब्द की सुध ली, उन्हें संजोया, यह रूप दिया, जिसकी वजह से यह यत्न साकार हो पाया है, मैं उनका आभार नहीं मानता, यही अपेक्षा करता हूं कि उनका ऐसा सहयोग सदैव वे देंगे।

नई दुनिया प्रिंटरी से जुड़े सारे अग्रजों, बन्धुओं को हृदय से सम्मान देना चाहता हूं जिनके अनवरत श्रम का परिणाम है, पुस्तक का यह स्वरूप और वह भी इतने अल्प समय में।

उम्मीद है आगे के पृष्ठों पर विराजे वक़्ताओं को आप मन से सुनेंगे, और अपने स्वभाविक उपजे निष्पक्ष आकलन से मुझे अवगत कराएंगे ताकि मेरी परिमार्जन यात्रा कभी विराम न पा सके। इन पूर्णता के पर्याय व्यक्तित्वों से यही सीख पाया हूं कि हमेशा अपूर्ण अनुभव करो। खण्डवा–(म.प्र.)

नर्मदाप्रसाद उपाध्याय

अनुक्रमणिका

1. जागिए रघुराज कुँवर
2. रोम रोम में राम
3. अंधेरे के आलोक पुत्र
4. देखी तेरी द्वारिका
5. तथागत : एक सांझ संकल्प की
6. बुद्ध : करुणा और कर्म के यात्रा पुरुष
7. महावीर आचरण में दर्शन के प्रतीक
8. महावीर–मानवता के प्राणों की धरोहर
9. ईसा : पर्वत से धरती के अनमोल बोल
10. ईसा : एक सिन्धु की सूली
11. मेरी मेराज कि मैं उनके कदम तक पहुँचा
12. पैग़म्बर हज़रत मोहम्मद, 'मर्म मरु भूमि के'
13. मैं बंजारिन राम की
14. बंधन मुक्त से बंधे
15. चल हंसा वह देस जंह पिया बसै चितचोर
16. भोजें चुनरिया प्रेम रस बूंदन

1

जागिए रघुराज कुंवर

विचार यही आता है कि तुम विस्मृत क्यों नहीं हुए आज तक ? क्यों हो इतने पैठे हुए; आस्था में कि रोज़ असंख्य प्रणाम तुम्हें अर्पित होते हैं ? पीढ़ियाँ समय की सरयू में विसर्जित होती जाती हैं लेकिन तुम प्रतिष्ठित बने रहते हो हरेक के मन मानस की अयोध्या में।

उत्तर कहाँ से मिलें? आस्था के या प्रणामों के जवाब तर्कों में नहीं मिलेंगें। तर्क से राम को पाने की कोशिश होती तो जाने कितने तरह के दर्शन तो रच दिए जाते पर रामायण नहीं रच पाती। रामायण तो विश्वास की स्याही से लिखी वह पोथी है जिसके पोर पोर से तुम्हारा वह रूप झांकता है जो भुलाने के लिए बना ही नहीं। तुलसी तुम्हारे रूप के ऐसे चितेरे थे जिनकी तूलिका के रंगों में अमरता समाई थी। ये रंग पदार्थ से नहीं भाव से बने थे, वे भाव जो इस सृष्टि के उदय के साथ बने और जिनका अंत भी सृष्टि के अंत के साथ होगा।

तुलसी ने अपने इन्हीं भाव रंगों को शब्द देकर तुम्हारा रूप बांध दिया। ऐसा अप्रतिम रूप कि जानकी कह उठीं,

"राम को रूप निहारति जानकी, कंकन के नग की परछाई
बातें सब सुधि भूल गई कर टेकि रही परू टारत नाहीं।

ऐसे रूप को भुलाया नहीं जा सकता। शब्द भूले जा सकते हैं लेकिन भाव तो अजर, अमर होते हैं। इसलिए राम हमारे विश्वास की, आस्था की उस सघनता के पर्याय बन गए जिसे तर्क के झोंके कभी तिरोहित नहीं कर सकते। उन्हें नाहक प्रतीक पुरूष बना दिया गया। वे तो विश्वास व्यक्तित्व हैं। उन्हें प्रतीक बनाकर बहुत सीमित कर दिया गया जिसका नतीजा हम सभी आज भुगत रहे हैं। वे विश्वास व्यक्तित्व ही रहें, मर्यादा पुरुषोत्तम ही रहें तो उनका स्वरूप ज़्यादा व्यापक होगा। तब वे किसी एक वर्ग की, एक समाज की या एक देश की धरोहर नहीं रहेंगे। वे फिर सारे विश्व के रहेंगे। उनकी मर्यादा संसार की मर्यादा रहेगी और उनका पौरूष सारे जगत की शक्ति होगा।

राम जन्मे होंगे अयोध्या में, बना होगा उनकी स्मृति में मंदिर लेकिन ऐसा नहीं कि वे सिर्फ वहीं के स्थायी आस्था पुरूष हो गए। उनके प्रतीक रूप के प्रति इतना आग्रह करने का यह परिणाम हुआ कि राम का रूप बड़े सीमित दायरों में सिमट गया। राम से बड़ा तो कोई सर्जक नहीं, उनसे बड़ा कोई धर्म नहीं, जाति नहीं, उनके स्वरूप की कोई सीमा नहीं तब उनकी याद किसी विध्वंस, क्रूरता और संकीर्णता के बीच कैसे संजोई जा सकती है?

प्रतीक कभी प्रेम से बड़े नहीं होते और न ही वे निर्मल आस्था के हिमालय को लांघ सकते हैं इसलिए राम सिर्फ राम रहें हमारी आस्था के परमधाम रहें इसलिए ज़रूरी है कि हर मन सरयू का तट हो और मानस अयोध्या।

राम को परम्परागत अर्थों में पूज देने भर से या उनकी याद कर लेने भर से राम जन्म के उस पल की सार्थकता पूरी नहीं होती जिस पल वे माँ कौशल्या की गोद से जन्मे थे। जिस घड़ी राम जन्मे वह तो बड़ा अलौकिक क्षण था। वह क्षण समय की माला में गूंथा ही इसलिए गया कि वह इस विश्व की क्षणभंगुरता से समूची मानवता को परिचित कराए, प्रेम को विस्तार दे, भ्रातत्व को सघन बनाए और मानवीय मूल्यों को इतनी ऊँची प्रतिष्ठा दे कि मानव और ईश्वर में भेद न रहे लेकिन यह क्षण आज इन सब चीज़ों के खिलाफ होने वाली घटनाओं का साक्षी है। यह विरोधाभास इसलिए है कि हम राम को एक स्थिर काल और घटनाओं का ऐसा भगवान भर मान बैठे जिसकी हमें सिर्फ आराधना भर करना है।

वास्तव में यही हमारी ग़लती है। राम तो बदलने वाले हर समय के प्रसंग में देखे जाने वाले सहज विश्वास व्यक्तित्व हैं। उनका समूचा कृतित्व इतना परिपूर्ण है अपने आप में कि चाहे कोई काल हो वे प्रसांगिक बने रहते हैं। हमारी दृष्टि की संकीर्णता उनका रूप संकरा कर देती है वरना उनके कृतित्व का वैराट्य तो सीमाहीन है।

बड़ा अन्याय है यह राम के साथ कि जिसकी ठोकर ने पाषाण को मानवी बनाया हमने उसे ही पाषाण बना दिया।

राम आराध्य हैं लेकिन इसलिए नहीं कि वे भगवान के रूप में सदियों से पूजे जाते रहे हैं, उन पर आस्था के फूल इसलिए नहीं चढ़ते क्योंकि वे हमारे लिए अधर्म के हन्ता व्यक्तित्व के रूप में प्रतिष्ठित हैं बल्कि वे आराध्य इसलिए हैं क्योंकि उन्होंने मानवीय मर्यादा के उन शिखरों को छू लिया जो केवल ईश्वर के लिए ही संभव माने जाते थे। उन्होंने पौरूष की उस गरिमा से हमें परिचित कराया जिसके बल पर यह सृष्टि रची गई। वे इसलिए पूजे जाते हैं क्योंकि उन्होंने देवत्व को मानवीय रूप में अपने सहज कर्म से एक मानव के रूप में साकार कर दिखाया।

सतत कर्म और संघर्ष से क्या पाया जा सकता है यह उन्होंने एक मानव के रूप में कर दिखाया।

राम की आराधना करते समय आज के संदर्भों में दृष्टिकोण का यह परिवर्तन बहुत ज़रूरी है। बिना दृष्टि बदले राम की अर्चना अधूरी ही रहेगी। वे त्रेता के भगवान ही बने रहेंगे, निष्ठुर अयोध्या के मूक बंदी और संकीर्ण विचारों की दीवारों के बीच विवश मालाएँ पहिने ईश्वर।

हमारी संकीर्णता को कोई अधिकार नहीं कि वह राम की विराटता को संकुचित करे। राम का चरित्र एक व्यापक बोध देता है। उनके जीवन काल की प्रत्येक घटना एक आदर्श प्रस्तुत करती है। उनका मनोहारी रूप विभोर कर देता है हमारे मन को मग़र सिर्फ उन्हें इसी स्वरूप में याद करते करते कर्महीन बने बैठे रहना राम का सच्चा स्मरण नहीं है।

राम का सच्चा स्मरण तो उस कर्म में है जिसके कारण वे राम हैं। उनकी सच्ची स्मृति तो उन रिश्तों में समाई है जो भाई–भाई के बीच हैं; पिता और पुत्र के बीच हैं, पति और पत्नी के बीच हैं, लोक और लोक सेवक के बीच हैं और अपने खुद के विरोध में खड़े सबसे बड़े शत्रु के बीच हैं। इन्हीं रिश्तों की मर्यादा में राम बंधे हैं और इसी मर्यादा ने उन्हें पुरूषोत्तम बनाया।

रामायण कंठस्थ हो जाए या राम की प्रशंसा में होने वाले प्रवचनों को सुनते सुनते हम अभिभूत हो उठें इससे राम नहीं मिल पाऐंगे। राम खोजने से नहीं मिलेगें कभी, वे तो अपने आप में मिल जाएँगे और तब मिल जाएंगे जब रामायण के रिश्ते अमली जामा पहिनने लगेंगे हमारे आज के समाज में। जो रिश्ते राम ने बनाए उन्हीं रिश्तों को सहेज लेना, निभा लेना रामनवमी बना लेना है।

राम तो कर्म पुरूष थे। ऐसे कर्म पुरूष जिन्होंने अपनी कर्मठता से माँ जानकी को जहाँ एक ओर वर लिया था वहीं उसी कर्मण्यता के बल पर उसी जानकी को पूरी पवित्रता के साथ दानवी बंधनों से मुक्त भी करा लिया था। उनकी कर्मठता ने रामराज की रचना की, ऐसे रामराज की जिसमें कोई समानता और असमानता के भेद नहीं रहे। असमानता समाज की पौरूषहीनता की देन होती है। राम की यही विशेषता थी कि उन्होंने अकेले ही अपने पौरूष के बल पर असमानता को समाज से समाप्त कर दिया। अपने कर्म के बल पर अपने नाम को इतना पवित्र और शक्तिशाली बना लिया कि पंगुओं ने पहाड़ पार कर लिए और जो मूक थे वे वाचाल हो उठे।

उनका नाम शक्ति और ऊर्जा का पर्याय बन गया,

आज की विडम्बना यह है कि हम जीते कर्मयुग में हैं लेकिन कर्मपुरूषों की याद को अपनी अकर्मण्यता से जोड़ लेते हैं। उन्हें प्रासंगिक बना ही नहीं पाते।

उन्हें प्रासंगिक बना लें तो प्रसंग सार्थक हो जाऐं, समय सार्थक हो जाए यह जीना सफल हो जाए। हम जब अपना आत्मविश्वास खो चुके तो इस विश्वास पुरुष की स्मृति को पूरे विश्वास और आस्था के साथ संजो कैसे पाऐंगे?

अर्चना कर फूल चढ़ा देना किसी कर्म पुरूष की स्मृति को संजो लेना नहीं होता, उसे संजो लेने की औपचारिकता भर होता है। ऐसी औपचारिकताओं से कर्म के कोई अध्याय नहीं रचे जा सकते अब इन औपचारिकताओं को विराम दें। आगे आने वाली पीढ़ी कर्ममय राम की पीढ़ी हो।

ये राम जन्म चुके। छोटे छोटे अनगिनत राम भोर में निश्छल सोए हैं। इनकी कर्म यात्रा अभी आरंभ होना है। आऐं इन्हें हौले–हौले जगाऐं और कर्मपथ पर चलने के लिए प्रेरित करें। पंछी तो जाग चुके, अब तो हमें सिर्फ अपने इन रामों को जगाना भर है, आइए इन्हें इस प्रभाती के साथ जगाएँ,

"जागिए रघुराज कुंवर,
पंछी बन बोले
जागिए रघुराज कुंवर।

2

रोम रोम में राम

राम को लेकर इन दिनों हम बड़ी उलझन के बीच से गुज़र रहे हैं। राम को लेकर बंट गए, राम को लेकर सांप्रदायिक हो उठे, राम को लेकर बिखर गए। क्या विडम्बना है कि जो व्यक्तित्व विश्वास का सौहार्द का, अपने युग का इकलौता आदर्श मानवीय व्यक्तित्व रहा, आज उसी के नाम को लेकर, अविश्वास जन्म गया, एकता भंग हो गई, सौहार्द्र छिन्न भिन्न हो गया। यह सब राम के लिए भी कल्पनातीत रहा होगा। राम जैसे युगपुरूषों के साथ यही विडम्बना जुड़ी होती है कि वे अपने जिन कृत्यों के कारण वंदनीय होते हैं, अपने समय में, बाद के समय की अकर्मण्य पीढ़ी उनके कृत्यों को अपने आचरण में न ढाल पाने की वजह से उन्हें पूजने लगती है, उन्हें वह बना देती है जो वे बनना चाहते ही नहीं थे और वे अकर्मण्यता के दबाव में बंटवारे और सांप्रदायिकता के प्रतीक बना दिए जाते हैं। सच्ची आस्था अपना अस्तित्व कभी भी एकता या सौहार्द्र की क़ीमत पर नहीं चाहती बल्कि वह तो इन्हीं तत्वों से बनी होती है, वह आस्था जो विभक्त करे, संकीर्ण बनाए, भाईचारे को ख़त्म करे वह आस्था नहीं आस्था का छद्म है, उसी रावण की तरह जो सीता को हरने दानव से ऋषि बन गया था। आज जिस आस्था का दिखावा हो रहा है वह सच्ची आस्था नहीं है बल्कि वह रावण के भेष में ऋषि है।

राम की ऐतिहासिकता असंदिग्ध है, भले बाद के काल में उनके चरित्र के साथ कई अविश्वसनीय आख्यान जोड़ दिए गए हों, यह भी विवादित नहीं कि वे अगाध श्रद्धा से पूजे जाने वाले ईश्वरीय अवतार हैं, और इसमें भी कहीं कोई संदेह नहीं कि हमारी सांस्कृतिक अस्मिता को रचने में उनके कृतित्व की महती भूमिका रही, फिर क्यों इस इतिहास पुरूष के साथ यह अन्याय हो रहा है कि वे एक धर्म विशेष के लिए पूजनीय हैं? यह सवाल क्यों उठाया जा रहा है कि उनके बारे में ऐतिहासिक साक्ष्य एकत्र किए जाएँ? क्यों एक सार्थक मानव को, निरर्थक विवाद का विषय बनाया जा रहा है? क्या राम को लेकर यही सब कुछ बचा है करने के लिए?

राम को लेकर क्या यह नहीं बचा कि हम एक हो लें, उनकी कर्मण्यता को सब मिलजुलकर अपने–अपने आचरणों में ढालें, उस रामत्व से साक्षात् करें जो अपनी युगीन विकृतियों के रावणत्व के ख़लिाफ एक सशक्त निषेध के रूप में उठ खड़ा हुआ था। वास्तव में राम के नाम पर करने को यही बचा है, जिसे करने से हम बचते हैं और उनके नाम पर कर वह कर रहे हैं जो स्वयं राम की कल्पना से परे रहा होगा।

आज इस विश्लेषण की इसलिए ज़रूरत है क्योंकि हमारी पीढ़ी एक निर्णायक दौर से गुज़र रही है और यही पीढ़ी प्रासंगिक है। युग अपने समय की पीढ़ी से ही सवालों के जवाब चाहता है, यदि कतराकर कोई पीढ़ी उन सवालों के जवाब नहीं देती तो युग उसे इतिहास के नपुंसक अध्यायों को सौंप देता है। फिर यह पीढ़ी कभी जीवित नहीं कही जाती, न ही इसके

अवदान का कोई मूल्यांकन होता है और न ही भविष्य इससे कोई प्रेरणा लेता है। ऐसी पीढ़ी में न जन्मना ही श्रेयस्कर है। इसलिए हम निर्णय लें, अपने प्राण और प्रसंग को सार्थक करें यही ज़रूरत है समय की और इसी परिप्रेक्ष्य में राम से जुड़े सवाल जो युग ने हमारे सामने खड़े किये हैं उनका जवाब हमें देना चाहिए।

राम से जुड़े सवाल कई हैं। वे कहाँ जन्मे ? यदि अयोध्या में जन्मे तो क्या वहीं जन्मे जहाँ का दावा किया जा रहा है? और यदि वहीं जन्मे हैं तो क्या मंदिर भी वहीं बनना चाहिए ? या क्या मस्ज़िद वहीं फिर से तामीर होनी चाहिए, जहाँ पहिले एक खण्डहर के रूप में बाबर के ज़माने का एक ढांचा खड़ा था? और सबसे महत्वपूर्ण सवाल यह है कि ये सवाल युग ने खड़े क्यों किए? ये सवाल युग ने इसलिए खड़े किए क्योंकि हमारे सोच का दायरा क्रमशः संकरा होता गया और जिस राम को रोम रोम में बसा हुआ, समाया हुआ माना जाता था उनके अस्तित्व के जन्मने को स्थान में खोजा जाने लगा। राम यदि रोम रोम में समाए हैं तो हर देह अयोध्या है और हर सरिता सरयू।

राम जन्मे अयोध्या में, वहीं गर्भगृह में जन्मे लेकिन क्या राम यहीं तक सीमित हैं ? बाबर के सेनापति ने उस स्थान पर यदि मस्जिद तामीर कराई तो यह उसकी अक्षम्य भूल थी, एक सदियों पुरानी भूल तो क्या उस भूल का खामियाज़ा हमें भुगतना चाहिए? ये दोनों सवाल जुड़े हैं एक दूसरे से। राम भौतिक रूप से गर्भगृह में भले जन्में हों लेकिन उनकी कर्मण्यता इतनी पूजनीय बनी कि वे तो हर मन, मानस में जन्म गए और उनके इस जन्म ने वह मस्ज़िद स्वतः ढहा दी जिसे एक कट्टर उन्माद ने खड़ा किया, इस परिप्रेक्ष्य में एक ढांचे के बनाए जाने का कोई महत्व नहीं रहा। लेकिन एक बड़ी भूल हमने यह की, कि राम के नाम पर उस ढांचे को ढहा दिया जिसके कारण जाने कितने निर्दोष प्राण चले गए, असमय चले गए। यही बड़ी भूल अब फांस बनकर अटक गई है और इसी ने इस सवाल को तूल दे दिया है कि क्या नई मस्ज़िद वहीं तामीर होनी चाहिए जहाँ पुराना ढांचा खड़ा था ? इसी मुद्दे को लेकर राम के नाम का विकृत राजनीतिकरण हो रहा है जिसके सच्चे रामत्व से दूर–दूर तक के सरोकार नहीं हैं। वह स्थान जहाँ राम जन्मे अकेले हिन्दू समाज की धरोहर नहीं है, वह तो समूची मानवता की धरोहर है क्योंकि राम ईश्वर तो बना दिए गए, वे थे तो मनुष्य ही एक महामानव, एक आदर्श मानव, एक मर्यादा पुरुषोत्तम, इसलिए राम के जन्म का स्थान मनुष्यता की धरोहर है और वहाँ उस कर्मेपुरूष की स्मृति में ऐसा निर्विवाद शिल्प निर्मित किया जाना चाहिए जो शिल्प मनुष्य मात्र की धरोहर हो, किसी वर्ग का, समाज का धर्म या संप्रदाय का उस पर एकाधिकार न हो या वहाँ कुछ निर्मित ही नहीं होना चाहिए। उस स्थान को कर्मण्यता का उत्स मानकर, हर नए निर्माण के पहिले प्रत्येक वर्ग के मनुष्य को उस स्थान पर जाकर सौगंध लेनी चाहिए, संकल्प लेना चाहिए कि जो नया निर्माण होगा वह पूर्ण होगा, सच्ची निष्ठा के साथ होगा, सबके लिए होगा और वह रचेगा देश के उन्नत भविष्य को।

जब तक हमारी पीढ़ी मनुष्य की सीमा तक उदार नहीं बनेगी, इस सांप्रदायिक कट्टरता का अन्त नहीं होगा और न ही देश के भविष्य को संवारा जा सकेगा। यह उपदेश नहीं है,

एक सार्थक विकल्प है जिसके जरिए टूटने से बचा जा सकता है, इतिहास के नपुंसक अध्यायों में विलीन होने से बचा जा सकता है, भविष्य की पीढ़ी को आतंक, भय, उन्माद और सांप्रदायिक कट्टरता जैसे अभिशापों को सौंपने से बचा जा सकता है। हमारी मुश्किल यह है कि हम राम को विराम दे देते हैं। हमने राम को जड़ कर दिया, स्थिर कर दिया, उन्हें अपने मनमानस में गतिमान ही नहीं होने दिया। रामत्व यदि हममें गतिमान होता तो यह अधोगति होती ही नहीं। उदारता मनुष्य का नैसर्गिक गुण है लेकिन हम इस गुण को भुलाकर मानवीय अस्मिता को खत्म कर रहे हैं, अपने आपसे छल कर रहे हैं, भविष्य से खिलवाड़ कर रहे हैं, यह सब तत्काल बन्द होना चाहिए क्योंकि इससे राम बहुत आहत होते हैं और हम वास्तव में सच्चे मन से राम की आराधना करना चाहते हैं, उन्हें आहत करना नहीं।

एक सवाल मुस्लिम कट्टरता का भी है जो बेहद महत्वपूर्ण है। यह कट्टरता भी उतनी ही निंदनीय है जितनी हिन्दू सांप्रदायिकता। यदि हमारे पड़ौसी पागल हैं तो हम भी विक्षिप्त हो उठें, यह हमारा दायित्व नहीं है। यह हमें अच्छी तरह जानना चाहिए कि उनकी कट्टरता ने उनकी जड़ों में मट्ठा डाला है। वे आज भी परावलम्बी हैं, विभाजित हैं, उनकी अहमियत उस मकड़ी से ज़्यादा नहीं है जो अपने बुने जाल में खुद फंसी रहती है और उसे ही अपना सर्वस्व मानते अपना अस्तित्व खो बैठती है। लेकिन जहाँ तक भारतीय मुसलमान भाइयों का सवाल है यह बात उनके दिमाग़ों में अच्छी तरह साफ़ होनी चाहिए कि उनका देश भारत है, यहीं उन्हें जीना है, यहीं मरना और दफ़्न होना है। इसी देश में पहिले मनुष्य की तरह रहना है क्योंकि मनुष्य होने के बाद ही किसी इबादत की गुंजाइश है और महान रसूल की यह सख़्त हिदायत है कि जहाँ जन्मे हो उसे ही जन्मभूमि मानो। "इस्लाम" का अर्थ ही है "शांति में प्रवेश करना।"

जाने क्यों दोनों संप्रदायों के लोग यह क्यों नहीं सोचते कि राम और रसूल की पहिली प्राथमिकता मनुष्यता थी, सौहार्द्र था, भाईचारा था। होता यह है कि जब उन्माद हावी होता है तो आँखें बंद हो जाती हैं, मस्तिष्क शून्य हो उठता है, विवेक मर जाता है, पशुता जाग जाती है और इस तरह राम और रसूल दोनों के मूल्य एक धधकती आग में भस्म हो जाते हैं, फिर जब यह आग शांत होती है तो पश्चाताप के आंसू बहते हैं। समय बीतता है, आँसू थमते हैं, पश्चाताप का स्थान प्रतिशोध ले लेता है और आग फिर धधक जाती है।

कब तक धधकते रहेंगे ये अलाव? आज का यही सबसे प्रासंगिक प्रश्न है। इन अलावों की आंच सदैव के लिए ठंडी होनी चाहिए, इस आग को हमेशा के लिए बुझना चाहिए। हममें से जब यही आकांक्षा सभी की है तो यह आग निश्चय ही बुझेगी सदैव के लिए क्योंकि हममें से हरेक राम को पूजना चाहता है, उन्हें आत्मसात करना चाहता है आवश्यकता सिर्फ एक संकल्प की है, ऐसे संकल्प की जो हमारी दृढ़ आस्था के साथ संजोया गया हो। एक अडिग संकल्प जो सिर्फ यह् हो कि हम मनुष्य बने रहेंगे ऐसे मनुष्य जैसे राम थे। राम यदि हमारे रोम रोम में सच्चे रूप में बसे हैं तो हम राम जैसे हो सकते हैं। राम के अपराजेय पौरूष, अपार वीरता और उत्कृष्टतम गुणों से हम भले भरपूर न हों लेकिन हम उन जैसे सच्चे भाई,

मित्र, सच्चे शिष्य और अपनी माँ के सच्चे पुत्र तो हो ही सकते हैं और यदि इतना भर हो पाया तो हम रामलला के दर्शन रोज़ अपने आप में कर सकते हैं।

यदि यही रामलला हमारे मनों में विराजे रहे तो फिर मंदिर के कलश और मस्ज़िद की मीनार में हम कोई फर्क नहीं देख पाएँगे।

अपनी दृष्टि के परिमार्जन में ही रामलला के सच्चे दर्शन हो सकते हैं बस इतना भर अनुभव कर लेना राम को रोम रोम में बसा लेना है।

3

अंधेरे के आलोक पुत्र

अंधेरा बेहद घना है, कुछ सूझता नहीं। आसपास जुगनू भी नहीं चमकते। उजास की आस में आंखें बस भटकती रहती हैं, उन्हें ठौर नहीं मिलता। यह मेघहीन अंधकार है। मेघों से आच्छादित अंधेरा हो तो बिजली की कौंध की आस बनी रहती है लेकिन यह तो सूखा अंधेरा हैं, यह रात्रि बड़ी भयावह है।

लेकिन वह भादों की रात तो कहीं इससे ज़्यादा अंधेरी थी। अंधेरा ही अंधेरा था चारों ओर मग़र वह रात भरपूर थी मेघों की हुंकार से। वे अनवरत बरस रहे थे, बिजली की कौंध से बन्दीगृह की दीवारें चमक जाया करती थीं, यमुना के तटबंध टूट गए थे और लहरों ने आकाश की ऊँचाई को चुनौती दे रखी थी। यह वही रात थी जब कृष्ण जन्मे थे। अंधेरे के आलोक पुत्र कृष्ण।

आज के सूखे अंधेरे और उस मेघाच्छादित अंधेरे में यही अंतर है कि मेघ की चुनौती को स्वीकार न करने की सामर्थ्य के कारण आज का अंधेरा सिर्फ अंधेरा हैं जबकि जन्माष्टमी की उस रात के अंधेरे को मेघों की चुनौती स्वीकार करने के कारण कृष्ण जैसे उजासपुरूष को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त है।

बिना चुनौतियों को स्वीकारे सिर्फ बांझ ही रहा जा सकता है।

कृष्ण का जन्म वास्तव में सामर्थ्य और पौरूष की जिजीविषा का जन्म है। कृष्ण का जन्म उस उजाले का जन्म हैं जिसे हम 'श्याम' कहकर पूजते हैं। कृष्ण जन्म सिर्फ एक ऐतिहासिक घटना का घट जाना नहीं बल्कि घटाओं को चीरकर एक इतिहास पुरुष का घटना पुरुष से, भावपुरूष और फिर इस भावपुरूष से एक पौरूषवान ईश्वर की महाआराधना के रूप में प्रतिष्ठित हो जाना हैं। कृष्ण का जन्म एक यात्रा का जन्म है जिसने मानव की नियति को निर्धारित कर दिया। ब्रज का बचपन, मथुरा का कैशोर्य, द्वारिका का प्रशासन और अन्त में प्रभास में अनन्त में विलीन हो जाना, मानव की जीवन यात्रा को सुनिश्चित करने वाले पड़ाव हैं और कृष्ण मनुष्य की इसी नियति के आदर्श पर्याय हैं।

कृष्ण की सबसे बड़ी विशेषता हैं उनका ऐतिहासिक होना। वे इतिहास पुरुष हैं। इस देश के इतिहास की गली–गली में कृष्ण हैं और यह समूचा देश मानों एक वृन्दावन है जिसकी गलियों के सारे द्वार अंततः यमुना के उस तट पर मिल जाते हैं जो एक सतत प्रवाह का साक्षी भी हैं और सहभागी भी, कृष्ण प्रवाह के प्रणेता हैं। कृष्ण की यमुना श्यामल हैं, उनकी राधा सांवली हैं और वे खुद भी श्याम हैं। क्या बात है कि कृष्ण ने इतना मोह पाला सांवलेपन से। शायद इसलिए कि जब तक श्यामलता की प्रतीति न हो, उससे साक्षात् न हो तब तक उजलेपन की पहिचान नहीं बनती। कृष्ण से जुड़े सारे प्रतीक श्यामल हैं लेकिन ये सारे प्रतीक ऐसी धवलता के भी अध्याय हैं जो सिर्फ कृष्ण ने रचे। राधा की अनवरत प्रवाहित

होती प्रीति की उज्जवल धारा, घने श्यामल कुंजों में रचाया जाता प्रकाशवान रास, कालिन्दी के श्यामल जल में विराजी उज्ज्वल पवित्रता और भादों की वह घनेरी अंधियारी रात जिसमें वे स्वयं आलोक पुत्र के रूप में जन्म गए। यदि वे श्यामलता को नहीं अपनाते तो उजलेपन की कोई परिभाषा ही नहीं होती। कृष्ण ने अंधेरे की चुनौती स्वीकार की और अंततः अंधेरे को जता दिया कि जय तो प्रकाश की ही होना है। वे अंधेरे से अंधेरे की शैली में जूझे और उसे उसी की शैली में पराजित कर दिया। जाने कितनी विशेषताएँ हैं उनके व्यक्तित्व की भी, चरित्र की भी। वे द्वंद्वात्मक भी हैं, निर्द्वंद्व भी, मोह के प्रतिरूप भी हैं और विरक्ति के साकार स्वरूप भी, उनसे, बड़ा अनुरागी नहीं, उनसे बड़ा मित्र नहीं, उनसे बड़ा मानव नहीं, उनसे बड़ा ईश्वर नहीं। कृष्ण पर न्यौछावर होने वाली आस्था उन्हें सिर्फ प्रणाम नहीं करती वह तो उनमें समा जाना चाहती है और उन्हें अपने में समो लेना चाहती है।

कृष्ण के प्रति आस्था उमड़ती है, लेकिन उनके प्रति एक वत्सल अनुराग भी उमड़ता हैं। आस्था के ये रूप, वास्तव में भाव हैं, इसलिए श्रीकृष्ण वास्तव में भावपुरूष हैं। जब वे कंस वध करते हैं, कालिया दमन करते हैं, पूतनावध करते हैं तब उनके प्रति एक प्रणाममय आस्था जन्मती है, जब वे कुरूक्षेत्र में योगेश्वर रूप में अर्जुन को गीता सुनाते अपना वास्तविक रूप दिखाते हैं तब श्रद्धा जन्मती है लेकिन जब वे यशोदानन्दन होते हैं, यमुना के तीर पर, निकुंजों में लीला रचाते घनश्याम होते हैं, नटनागर होते हैं तब उनके प्रति एक सहज अनुराग भाव जन्मता हैं। कृष्ण का यह बहुआयामी व्यक्तित्व हमारी संस्कृति के साथ–साथ हमारे मर्यादित संस्कारों को भी रचता है।

इस मनोहारी व्यक्तित्व ने इस देश को एक कुंज संस्कृति दी जो शुष्क नहीं है, हरी–भरी, अनुरागमय, प्रीतिमय और रागात्मक एक्य से परिपूर्ण है। इस संस्कृति की अपनी विविधता है और इस विविधता में भी अद्‌भुत एकरूपता हैं, साम्य है। कृष्ण का चरित्र कहीं भी विखंडित नहीं है वह आयु के साथ अपने कृतित्व का क्षेत्रफल बढ़ाता है, उसकी प्रकृति को बदल देता हैं और फिर भी तादत्म्य बनाए रखता हैं। उनका चरित्र सारे विरोधाभासों के विरूद्ध एक जीवंत निषेध के रूप में खड़ा है। वह पारदर्शिता का, पौरूष का, और संपूर्णता में मनुष्यता के सच्चे प्रतिमान का पर्याय है।

कृष्ण के साथ ऐतिहासिकता जुड़ी हैं। मथुरा के शिल्प और द्वारिका के उत्खनन से निकले पुरातात्विक प्रमाण उनके अस्तित्व की पुष्टि करते हैं। उनके ऐतिहासिक अस्तित्व की कड़ियाँ निरन्तर मिलती हैं और भागवत के पहिले का उनका स्वरूप कहीं भी लीलामय नहीं है। वे एक योद्धा हैं, अपने समय के महानायक और महायोगी हैं लेकिन दसवीं सदी के बाद वे अकेले कृष्ण नहीं रहते उनके साथ गीतगोविन्द के सृजन के बाद राधा जुड़ जाती हैं जिनकी कोई ऐतिहासिकता नहीं रही और वे कुछ इस तरह जुड़ जाती हैं, कृष्ण से कि उनका चरित्र बड़ा रसमय हो उठता हैं। राधा आगे हो जाती हैं और माधव पीछे, राधा के साथ जुड़ने के बाद जो मनोरम छवि कृष्ण की बाद की सदियों से बनती चली गई वही हमारे मन मानस में स्थिर रह गई 'इस छवि को रसखान, रसलीन, ताज, सूर, अष्टछाप के कवियों से लेकर केशव

और बिहारी ने कुछ इस तन्मयता के साथ बांधा कि कोई पीढ़ी फिर बीती शताब्दियों में स्थापित कृष्ण छवि की ओर मुड़कर नहीं देख पाई। यह रसभरी और पौरूषभरी छवि हमारी धरोहर बनी रही और यही छवि हमारे लिए आज भी पूजनीय हैं। कृष्ण में राधा का और राधा का कृष्ण में विलय कुछ इस तरह हुआ कि फिर इस विलय का विश्लेषण नहीं हो पाया, बस सभी विभोर होते चले गए फिर वे चाहे चैतन्य हों या पुष्टिमार्गी संत।

कृष्ण को जिस रूप में आज हम देखते हैं वह दसवीं सदी के बाद का रूप है। दसवीं सदी से पहिले का रूप तो इतिहास के गलियारों में खो गया, कृष्ण का यह रसमय रूप जो लोकमानस में पूरे स्थायित्व के साथ स्थापित हुआ उसका प्रमुख कारण उनके चरित्र के साथ लोकभाव का जुड़ा होना है। कृष्ण और राम दोनों ही लोकतत्व के प्रतिनिधि भावपुरूष हैं। कृष्ण के साथ दूर–दूर तक आभिजात्य नहीं जुड़ा वे ज़मीन से जुड़े, गाँवों से जुड़ें, यमुना के तट और तमाल के तरुवरों से जुड़े, ग्वालों, गोपियों, गायों से जुड़े और उस बरसाने के बड़ियारे नयनों वाली वृषभानुसुता राधा से जुड़े जिसके ग्रामीण भोलेपन को कायदे से लजाना भी नहीं आता था। कृष्ण इसी लोक में डूबे और लोकपुरूष से पारलौकिक ईश्वर हो गए। लोकमानस की चेतना ने इस चपल ग्वाले को लीलामय बनाते–बनाते अपना ईश्वर, अपना नियन्ता, अपना नियामक बना लिया। सच्चे अर्थों में कृष्ण इस देश की लोकचेतना के शीर्षनायक हैं। वे ऐसे सहज चरित्र हैं जिनके कारण लोकभाव भुलाए नहीं भूला जा सकता। इस देश के कण–कण में कृष्ण हैं। गाँव, ग्वाले, गाय हों, बंसी हो, दही की मथनी हो या कोई अल्हड़ काली कजरारे कोरों वाली किसी कालिन्दी के कांच जैसे जल में अपना प्रतिबिंब निहारती किशोरी, कृष्ण बरबस याद आ जाते हैं।

कृष्ण की व्यंजना बड़ी विराट है। इस व्यंजना के सागर में डूब जाना और फिर डूबते ही जाना हैं, उबरने का कोई प्रश्न नहीं। लेकिन कृष्ण चरित्र का सबसे प्रबल पक्ष उनकी प्रासंगिकता के स्थायित्व का हैं। कृष्ण हर युग में, हर समय में प्रासंगिक हैं और हर समय के प्रसंग के गर्भ से उपजी समस्याओं के निदान देते हैं। कृष्ण का अपना कृतित्व और उनका गीतादर्शन जहाँ एक ओर हमारे संपूर्ण जीवन की वास्तविकताओं से रूबरू कराता है वहीं दूसरी ओर वह जीवन को सच्चे अर्थों में जीने की आधार भूमि देता है। हमारी संस्कृति के धरातल का कोई कोना ऐसा नहीं जिस पर कृष्णत्व की छाप न हो। उनका जीवन दर्शन सिर्फ कर्म और कर्म की दीक्षा देता हैं। बिना कर्म के वे जीवन में प्राण ही नहीं देखते और इस सीमा तक जाते हैं कि कर्म करते रहो, फल की भी आस मत करो। चरैवेति चरैवेति, एकला चलो रे, एकला चलो रे, कृष्ण के दर्शन की रट है, यही अर्न्तध्वनि हैं, इसलिए कृष्ण हर युग में प्रासंगिक हैं क्योंकि बिना कर्म के समय निष्प्राण हैं, युग चाहे कोई होउसकी आत्मा कर्मण्यता ही होती है।

सारे भेदों से दूर, तरह–तरह की लीलाओं से लिपटा यह अनुरागमय, कर्ममय चरित्र हमारा आराध्य ईश्वर नहीं है बल्कि शाश्वत प्रेरण है और प्रेरणा पैदा ही तब होती है जब सारे उद्यम चुक जाते हैं, कहीं उजास नहीं दीखती, मन मुरझाने लगता हैं, तब यही प्रेरणा बरसती

भादों की रात में जन्म कर उफनती यमुना की लहरों को चीरती हुई चल पड़ती है वासुदेव रूपी समय के कंधों पर जग के अंधकार को मेटने, उसे तिरोहित करने और इसीलिए कृष्ण सिर्फ कृष्ण नहीं, अलोक–पुत्र हैं–अंधेरे के

4

देखी तेरी द्वारिका

अहमदाबाद, गुजरात की राजधानी, साबरमती की तरंगों में लगा, अधुनातन और पुरातन दोनों समो दिए गए हों, संकरी गलियां और चौड़े पथ, गांधी आश्रम और तीन सितारा होटलें, गांधीनगर को सजाता हुआ अधुनातन परिवेश और लाल दरवाज़े के आसपास बसी हुई बस्ती।

सारे वातावरण में एक अहिंसकता, कुछ–कुछ सात्विकता और एक हद तक नीरसता भी घुली हुई। महानगर का यांत्रिक बोध हावी, बसें, टैक्सियाँ, ऑटो रिक्शा, ऊँटगाड़ियाँ भी, सड़कों पर पाँवों का सैलाब और सड़कों के पार बहुमंजिला इमारतों की बिखरी रेत।

मन भटकने लगता है, भटकते–भटकते उसके पांव सागर के रेतीले तट की नमी को छूते हैं। अहमदाबाद की धरती से इस नमी भरे खारे रेतीले सागर तट की भूमि की दूरी बहुत है। दूरियां होती ही हैं बहुत होने के लिए, मग़र जब निकटता मन की हो तो ये भी अपने आपको समेट लेती हैं। मन बहुत आकुल है और कोई साधन खोज रहा है जो इन दूरियों को दूर कर सके, हिसाब लगाता हूँ। यहाँ कुछ मितव्ययता बरत लूं, कहीं निकलूं ही नहीं इस महानगर में। मन में गणित जम जाता है। टैक्सी वाले से बात कर लेता हूँ सुबह चलने के लिए।

अहमदाबाद से रवानगी सुबह–सुबह होती है। धीरे–धीरे पीछे छूटता शहर, मग़र पीछा करती हैं चौड़ी सड़कें, ट्रक, कार और फैक्ट्रियों के मुँह से उगलते धुएँ की लकीरें। मैं पुस्तकें पढ़ता रहता हूं और ड्राइवर की नज़रें मीटर पर जमी रहती हैं। मेरे लिए धरती से सागर तक का यह सफर एक अमूल्य यात्रा है मग़र उसके लिए, दस घंटे का रन, एक घंटे में पचास किलोमीटर, एक किलो मीटर का एक रुपया सत्तर पैसे और हाल्टिंग चार्ज अलग।

अहमदाबाद से राजकोट तीन घंटे में आ जाता है। कुछ महसूस नहीं होता लेकिन राजकोट के बाद लगता है टैक्सी की गति धीमी हो रही है और मन वहां पहिले पहुंचने को आतुर है।

विव्हलता के साथ आगे के सफ़र के, सारे घंटे सारे के सारे परिवेश को अपनी आंखों में समेट लेने के साक्षी भर बने रह जाते हैं, आंखें पूरे प्रयत्नों के साथ एक–एक कण को अपने में समेट लेने का निरर्थक प्रयास करती हैं, बड़ा भरोसा है, विश्वास है उन्हें। सबसे बड़ी बात तो यह आशा है कि शायद हो न हो जो हम देख रहे हैं, ऐसी ही किन्हीं दो आंखों की पुतलियों ने इस सारी हरीतिमा को इस भूमि के कण–कण को, कहो एक पल के लिए भी निहारा हो। न बिसरने वाले व्रज से हमेशा के लिए नाते तोड़कर इस भूमि पर मरने तक बसने के लिए जब आए हों तो घूम–घूम कर पुरानी स्मृतियों से मन हटाने के लिए अब आँखें नीचे की धरती से उठाकर ऊपर घुमाई हों, मुंदी हुई पलकों ने पुतलियों को कुछ देर के लिए मुक्त कर दिया हो तब भले ही एक क्षण, एक पल के लिए परिवेश को निहार लिया हो, या न भी

देखा हो शरीर पर टंकी पुतलियों ने, तो कभी शायद मन के ही नयनों ने यह सोचकर निहार लिया हो कि जहां बसे हैं वहां आसपास कोई गोवर्धन तो नहीं ?

कब का निकल चुका जामनगर, ड्राइवर ने कब खाना खाया, चाय पी, गाड़ी दोबार ठंडी की, पानी एंजिन में डाला, यह पता ही नहीं चला। सारे रास्ते, नज़र टिकी रहीं तो सिर्फ माइल स्टोन पर, लगता है जल्दी से जल्दी किलोमीटर के अंक सिमटते जाएं और आखिर में शून्य आ जाए। शून्य से शून्य की यात्रा के बीच अंकों का अंतराल अखरता है, लेकिन दस घंटे और माइलोमीटर, समय और यंत्र, दूरी के यही तो पैमाने हैं।

भाटिया आ गया, सांझ कब की उतर चुकी। आसपास बत्तियाँ जगमगाने लगी हैं। गाड़ी तेज़ रफ्तार के साथ भाग रही है और इस रफ्तार की सीमाओं को लांघता हुआ मन जाने कितने कालों की दीवार तोड़कर इतिहास के मर्म का स्पर्श करने लगता है। अतीत शायद हमेशा वर्तमान की दीवारों तोड़ता है। यह अतीत जीवित है, स्मृतियों में और स्मृतियों के प्राण हैं हमारी आस्थाएं। इन आस्थाओं के शिलालेख इतिहास के दस्तावेज़ों के मुकाबले अतीत के बड़े साक्ष्य हैं।

इन्हीं शिलालेखों की नींव पर वर्तमान के कलश सजे हैं। मेरा मन ऐसे ही प्रस्तर की खोज में उसे स्पर्श करने, सारी सीमाओं को लांघ रहा है। इस कालजयी प्रतिमा को छूने कालातीत होना ही पड़ेगा।

ज्यों–ज्यों इस धरती के एक पहलू का अंतिम छोर नज़दीक आ रहा है, चिंतन प्रवाह उद्दाम होता जा रहा है, टकरा रही हैं लहरें तर्क के तमाम तटबंधों को तोड़ने के लिए। सोचने का अबाध क्रम टूटता है, जुड़ता है, भटक जाता है। अब तो सागर खींच रहा है मिट्टी से विरक्ति सी हो रही है।

याद नहीं पड़ता कौन–कौन से गांव छूट गए, धीरे–धीरे नमी युक्त हवा बदन से टकराने लगती है और तंद्रिल अवस्था या यूं कहें एक असीम उन्माद में डूबा हुआ मैं वहाँ पहुँच जाता हूँ जहाँ राह की ठोकर एक क्षण को हौले से तंद्रा को तोड़ती हुई एक फलक दिखाती है "द्वारिका"।

"द्वारिका" कितने आख्यान हुए तेरे। आंखों में जाने कितने द्वापर घूम जाते हैं। कौन से द्वापर से जोड़ें अपने आपको, पौराणिक आख्यानों में वर्णित द्वापर, आध्यात्मिक विश्लेषणों की धुंध में डूबे द्वापर या भक्तिकालीन आस्था में आकंठ डूबे द्वापर। द्वापर कितने ही हों, भजनों में, भक्ति में, तर्क में या आस्था में लेकिन अडिग सत्य सिर्फ यह है कि " द्वारिका" सिर्फ तेरी है।

और तेरे नाम भी इतने हैं कि उन्हें गिनाना तुझे तेरी सार्थकता से वंचित करना है इसलिए द्वारिका को सिर्फ द्वारिका और तुम्हें सिर्फ तेरे कहूंगा। मैं नहीं मानता कि संबोधनों से महिमा जोड़ने पर अस्तित्व की गरिमा बढ़ती हो।

सर्किट हाउस में बिस्तर पर एकाकी लेट जाता हूं।

थरथराती लहरों से लिपटे तट पर गूंजती जल ध्वनियां, लगता है सितार के सारे तार एक साथ झंकृत हुए हों, एक सांगीतिक अनुभूति, पर दूसरे ही पल लगता है कि सागर का यह हाहाकार अतीत का वर्तमान की देहलीज़ पर क्रंदन जैसा तो नहीं। यह रेत के कणों का आपस में गले मिलकर वहीं चीखना तो नहीं, जिसकी परिणति सागर की अथाह तरंग ध्वनियों में व्यक्त हुई हों। रूदन का यौवन चिरन्तन है और टपटपाते आंसुओं की चिरपरिणति ये लहरें। आंसू ओस होते तो शायद ये लहरें होती ही नहीं।

द्वारिका के तट पर बिखरी बालू का एक–एक कण एक–एक गोपी की याद दिलाता है और इस बालू से लिपटी लहरें तेरी शाश्वत तरल आंखों की। रेत और लहर स्थायी विरह के चिरन्तन प्रतीक हैं।

नींद आने का सवाल नहीं, मैं खोज में नहीं आया तेरी, न इसलिए कि तेरे बारे में कोई नया ज्ञान ले सकूं। आया हूं तो सिर्फ एक मोह से बंधकर और यह मोह भी एक जुड़ा हुआ तार है बस। इस तार को आस्था कहूं, श्रद्धा कहूं या सिर्फ तार ही कहूं निश्चित नहीं हूं। यह तार आज की रात लांघ गया है अतीत की सारी सीमाएं जाने कितने युग, कितनी परम्पराएं, कितने बंधन, कितने विश्वास और कितने काव्य। हां लगता है सचमुच लांघ लिया है। कभी–कभी लगता है कि यदि सारी कविताओं को लांघ लो तो खुद एक कविता हो जाते हो। कोई सूर, कोई तुलसी, कोई मीरा, शायद ये व्यक्तित्व नहीं काव्य थे स्वयं।

तेरी सारी महिमा, सारे चरित्र, सारे यशोगान, आराधनाएँ, प्रार्थनाएँ, कथानक, कथा और संवाद कहीं अचानक जो अब तक बर्फीले शिखर थे, पिघल गए हैं और उनकी स्रोतस्विनी आंखों से बह निकली है। इस सांस्कारिक मन की आस्थाएं बहुत कुछ छूने का प्रयास करती हैं। अभी तक एक द्वंद्व सा चला आ रहा था। अब कुछ नहीं। कभी कभी द्वंद्व सिर्फ इसलिए भी होता है कि कोई दूर हो। मन दरक जाता है दो तहों में और दोनों ही द्वंद्वात्मक हो जाती हैं लेकिन आज ऐसा कुछ भी नहीं है।

एक हल्की सी झपकी लग जाती है, भोर के इंतज़ार में। आंखें जब खुलती हैं तब लगता है कि भोर हो चली। द्वारिका की भोर, एक रोमांच है, हल्की लालिमा की अनुभूति, हल्का सा उसकी ओर से झांकता प्रकाश, सागर की लहरों का शोर।

चाय पीता हूं, निवृत्त होता हूं। ड्राईवर भी तैयार हो जाता है। मैं बैठ जाता हूं टैक्सी में "बेट द्वारिका" जाने के लिए।

'बेट द्वारिका' सागर के बीच में है। द्वारिका से लगभग 8 कि.मी. की दूरी पर। कहते हैं, यही असली द्वारिका है। आज जो मंदिर है वहीं उस स्थान के नीचे तीन और मंदिर हैं। असली द्वारिका सागर की लहरों के गर्भ में है। कहें जिसे जो कहना है। चाहे पुरातत्ववेत्ता कहें, इतिहासज्ञ कहें, समुद्र शास्त्र के समर्थ ज्ञानी कहें या सफेद पोषाखों में गाय चराते ग्वाले कहें, मैं तो सिर्फ इसी पर भरोसा रखता हूँ कि तेरे नेत्रों ने जहां कहीं इस भूमि को देखा होगा वहीं द्वारिका हो गई, वहीं ब्रज हो गया और वहीं मथुरा। पंडे हों या मंदिर सिर्फ काल के

अंतराल की उपज हैं। इतिहास पुरुष किवदंतियों, दंत कथाओं और अंधविश्वासों से दूर एक सहज मानवीय अनुभूति के ज़्यादा करीब होते हैं। लगता है कि इतिहास की परतों को भेदकर मैं तुम्हारे ज़्यादा नज़दीक पहुँच रहा हूं।

'बेट द्वारिका' का द्वार आ जाता है। समुद्र का तट और तट पर बंधी नौकाएं। दूर–दूर तक निस्सीम सागर की हरी लहरें। कुछ क्षण आंखें इन्हीं पर टिक जाती हैं, इन्हीं लहरों के पूर्वजों को निहारा होगा तुमने। इन्हीं के सान्निध्य में बसाई होगी अपनी नगरी, इन्हीं लहरों और पथरीली भूमि के बीच अपना कृष्णत्व रोपा होगा। तुम्हें ज़रूरत ही नहीं पड़ी होगी किसी सेतु को बांधने के लिए किसी माध्यम की। तुम्हीं आ गए होगे दोनों के बीच और फिर कब इन दोनों को, भूमि को और सागर को मिलाकर अदृश्य हो गए यह शायद दोनों ही नहीं जान पाए होंगे, न जल बिन्दु न रेत के कण।

इसी वजह से तुम राम नहीं हो और शायद इसी कारण द्वारिका रामेश्वर नहीं। वहीं बंदरगाह पर कुछ छोटे बच्चे और बुजुर्ग मालाएं लिए खड़े हैं। उनकी प्रतीक्षा प्रातः 4 बजे से शुरू हो जाती है। जो अधेड़ हैं, जवान हैं उनके परिवारों के, वे नावें लेकर 'बेट' तक जाने के लिए यात्रियों की राह देखते हैं। उनकी आजीविका का यही साधन है। मैं भी माला और प्रसाद लेकर एक नाव में सवार हो जाता हूं।

मैं जिस नाव पर सवार हूं उसका वृद्ध नाविक बताता है कि उसके परिवार में पिछली चार पीढ़ियों से यही कार्य होता आ रहा है, नियति का व्यंग्य भी विचित्र है, हवा के रुख को देखकर महानगरों के बंदरगाहों पर जिन्होंने पाल बाँधे वे जहाज़ कंपनियों के मालिक हो गए और जिन्होंने गांवों के तटों पर नावों के पाल बांधे उनकी नियति सिर्फ नावें ही रहीं पीढ़ी दर पीढ़ी।

नाव मंदिर के किनारे लग जाती हैं। किनारे पर ही एक साधारण सी वेषभूषा वाले युवक से भेंट होती है वह अपने आपको पाटीदारों का पंडा बताता है। मन आशंकित होता है पंडा ! बहरहाल जब मंदिर के पास पहुँचते हैं तब वह स्वमेव मंदिर की ओर ले चलता है। आसपास का सारा भूगोल बताता है। डॉ. राव के परिश्रम स्वरूप उद्घाटित हुई पुरानी द्वारिका के प्रस्तर दिखाता है। उस दरगाह की ओर इंगित करता है जो वहीं पास में बनी हुई है।

नाव से उतरकर मंदिर की ओर जाते हुए नहीं लगता कि किसी बहुत बड़े तीर्थ में आए हों, एक ग्रामीण वातावरण लेकिन सुरम्य और मोहक।

मंदिर के अंदर पहुँचता हूं। जूते उतारता हूं। आसपास वातावरण संगीत गूंज रहा है। अभी स्नान हुआ है तुम्हारा, प्रातः आरती हो रही है। देखता हूं तेरी प्रस्तर प्रतिमा को और विभोर हो जाता हूं। काले प्रस्तर की जीवंत प्रतिमा, श्यामल नहीं केवल कृष्ण, श्यामल मूर्ति में कैसे होगे? पत्थर या तो काले होते हैं या धवल। अपने नाम के अनुरूप केवल कृष्ण हो, बड़े प्राणवान, जीवन्त और श्यामल द्युति से ज्योर्तिमय। दो बार निर्निमेष देखता भर रह जाता हूं। कोई विचार ही नहीं आते। विचार अनवरत हैं और उनका प्रवाह उद्दाम। लेकिन यह प्रवाह भी

सहसा रूक जाता है। मेरी आँखों में बस तुम्हारा कृष्ण स्वरूप है। लगता है सारे द्वंद्व थम गए हों, सारे तर्क मूर्छित हो गए हों, तुम्हारे पास आने तक द्वंद्व था तुम्हारे पास आने के बाद लगता है कि इस द्वंद्व से मुक्त हो गया हूं।

तुम वास्तव में गीता के कृष्ण हो, द्वंद्व के साक्षात् स्वरूप और निद्वंद्व के जागते प्रतीक। हारमोनियम पर तुम्हारे जागने और स्नान करने का वर्णन करते हुए छंद गाए जा रहे हैं। पंडितजी पूर्णतः विभोर हो, तुममे निमग्न होते हुए गा रहे हैं। यह अवसर उन्हें रोज़ मिलता है जो मुझे आज सुलभ हुआ। यही है हमारे जीवन का दर्शन। कोई सिर्फ विभोर रहते हुए सारा जीवन काट देते हैं और कोई सारा जीवन इसी में गुज़ार देते हैं कि कभी विभोर हो सकें।

जो अपनी सहज ग्रामीण चेतना के साथ विभोर होते हुए जी जाते हैं वहीं सार्थक हैं, सबसे ज़्यादा निरर्थक वे हैं जो तर्क की सीढ़ियों को पार करते तन्मयता के मंदिर तक पहुँचने का यत्न करते हैं और जब मंदिर की अंतिम देहलीज़ तक पहुँचते हैं तब लगता है कि इस मंदिर के आसपास सिर्फ परकोटे हैं, कोई मूर्ति नहीं। आस्था की कोई ऐसी स्थापना नहीं जिसके समक्ष नवां सकें सिर हो सकें विभोर। विव्हलता के आंसू वे मोती हैं जो नाविकों को तो मिल जाते हैं, नौकाधिपतियों को नहीं, आंखें पा भी जाओ, निहार भी लो सब कुछ लेकिन आंखे मीरा की तो मिलें। मीरा की आंखें सिर्फ तेरी देन हो सकती हैं जिनके बारे में सारे दर्शन नतमस्तक हैं।

तंद्रा फिर टूटती है, पाटीदारों के पंडाजी मंदिर से लगी झाँकियाँ दिखाते हैं। मंदिर की परिक्रमा कर बाहर आ जाता हूं। पंडाजी घर कर शर्बत पीने का आग्रह करते हैं। पर टाल जाता हूं। मन दक्षिणा बोध के भय से ग्रसित है। पंडाजी नमस्कार करते हैं मैं हतप्रभ हूं। कुछ माँगा ही नहीं, पाँच रुपए देना चाहता हूं। उनका अस्वीकार है, साथ में उत्तर भी 'हम सिर्फ पाटीदारों के पंडे हैं, उनके यजमान खंडवा, खरगोन से आते हैं, भोजन की व्यवस्था कर देते हैं। दक्षिणा भी दे देते हैं। कृपा है कृष्ण की, आप भी उधर के ही थे तो मन लग गया, पाँच दस रुपए तो कान्हा कहीं से भी दे देता है।"

इतना बड़ा व्यंग्य और इतनी विनम्रता से जैसे वह मुझे कहीं भी आहत न करना चाहता हो और मैं सिर्फ चुप हूं इतना मौन, जड़ और चेतनाहीन जितना कोई पत्थर भी नहीं होगा। पैसे के पौरुष की इस हार से आहत हो मैं पुनः नाव में बैठ जाता हूं। वहीं लहरें, वही हरीतिमा वही जहाज़ और वही तट।

इस पार उतरने के बाद त्वरा है द्वारिकाधीश मंदिर पहुंचने की। "द्वारिकाधीश" नाम ही काफी भारी है। इतिहास का विद्यार्थी होने के नाते मंदिर के शिल्प की ऐतिहासिकता का स्मरण करता हूँ और पहुँच जाता हूं मंदिर के प्रांगण में। बड़ा व्यावसायिक सा वातावरण है। चारों ओर दुकानें ही दुकानें और उन पर बैठे समृद्ध प्रतीत होने वाले सेठ, वे सब तुम्हारी प्रतिमाओं, हारों, चित्रों और प्रसादों को सजाए उनका मोलभाव कर रहे हैं।

प्रांगण में प्रविष्ट होते ही आठ–दस लोग मेरे सामने हैं उनकी भंगिमा देखकर प्रतीत होता है कि ये आदी हैं आगन्तुकों का स्वागत करने के लिए लेकिन दूसरे क्षण लगा, मैं कोई अतिथि नहीं, मैं इनके लिए आगन्तुक भी नहीं हूं। हूं तो केवल जिजमान और जिजमान का अर्थ है अर्थवान। उनकी आंखें मेरी श्रद्धा नहीं अर्थ सामर्थ्य परख रही हैं, पूछा जाता है नाम, वतन और जाति। बताने पर एक तिलकधारी दौड़ जाता है और एक धवल वस्त्रधारी को खींच लाता है। मेरे पास जो आगन्तुक पधारते हैं उनका बड़ा सुघड़ व्यक्तित्व है। सफेद कुर्ता, फकाफक धोती, ललाट पर चंदन और मुख से आती 120 नंबर की तम्बाखू की भीनी खुश्बू, वे कहते हैं, हम पंडे नहीं हैं, हम तो मार्गदर्शक हैं, फिर वे मार्ग दर्शन की दरें तय करने लगते हैं, पंडाजी शायद वे थे जो बेट द्वारिका पर मिले थे।

बेट द्वारिका के द्वार पर लगाए चंदन को मैं पोंछ लेता हूँ।

मेरे मार्गदर्शक मेरा हाथ खींचकर मंदिर के अंदर ले जाते हैं।

दो भिन्न रूप एक ही द्वारिका में तुम्हारे देखे। बेट में कितने सहज, नैसर्गिक, स्निग्ध और स्नेहमय परिवेश में विराजे और यहाँ कितने दूर, अवरोधों के बीच और आवरणमय, शिल्प के इस परकोटे में बंदी से।

कुछ ही देर में प्रणम्य मुद्रा में तुम्हारे सामने खड़ा हूं वहीं कृष्ण छवि, वही सलोनी भंगिमा, वही स्नेहिल नेत्र, तुम तो एक जैसे ही हो पर हम भिन्न हैं जिनके पास पैमाने हैं तुम्हें नापने के ये पैमाने क्यूं नहीं छीन लेते, क्यूं नहीं समेट लेते ये दूरियां, तुम तक आने के पथ, बड़े पथरीले हो चले। इन पर अब या तो हरी दूब उगा दो या इन्हें ही समाप्त कर दो। मैं तो तुम्हें अपने में सहेजकर खुद उसमें ही सिमटना चाहता हूं।

इसी कामना के साथ प्रांगण से बाहर आ जाता हूं।

देखा तुझे और तेरी द्वारिका को।

लौट रहा हूँ। सागर फिर दूर होता जा रहा है, अपनी भूमि पर फिर लौट रहा हूं। तेरे द्वार पर आते समय सागर की जिन सूनी तरंगों को देखा था, अब उन पर असंख्य दीप जगमगाते देख रहा हूं। इन दीपशिखाओं की समेकित ज्योति मानो मेरे मन में समा गई है, तिरोहित होते तिमिर के बीच एक उगती उषा का आलोक लिए लौट रहा हूँ।

लौटते समय अकेला नहीं हूँ तुम्हारी छवि की दमकती भोर की उजास मेरे साथ है।

5

तथागत

एक सांझ संकल्प की

उगना भोर का होता है और उतरना सांझ का। सांझ जब उतरती है, धरती पर तब दिन में गुलमोहर के फूल सा रंग लिए वलयाकार सूरज, पलाश के रंगों के साथ नीली झील की सतह में हौले–हौले डूबने लगता है, लगता है, जैसे किसी कलश से सोने की असंख्य अशर्फियाँ इस नीली सतह पर बिखर गई हों, किरणों का यह बिखरता सोना नीली लहरों की सुनहली अंगड़ाई बन जाता है, लेकिन यह अंगड़ाई किसी निद्रा का पूर्वाभास नहीं होती, बल्कि आने वाले अंधकार से जूझने का संकल्प होती है।

तथागत संकल्प की ऐसी ही सांझ की तरह आज से क़रीब ढाई हज़ार बरस पहिले, इस धरती पर उतरे थे।

वे भोर की भांति उगे नहीं, सांझ की तरह उतरे, क्योंकि भोर तो उदित होकर ढल जाती है लेकिन सांझ के उतरने में तिमिर से जूझने के संकल्प छुपे होते हैं। सांझ की किरन किसी लड़ाई से पहिले ली गई अंगड़ाई होती है।

इसलिए बुद्ध का अवतरण एक ऐसे दृढ़ संकल्प का अवतरण था, जिसकी मुद्रा तामसी नहीं थी। वह सौम्य, शांत, गंभीर और गरिमामय थी, क्योंकि इस मुद्रा में तात्कालिक सवालों के सीधे और सहज उत्तर निहित थे, न तो कोई विरोध निहित था न प्रतिशोध।

वे ऐसे योद्धा थे, जिनसे द्वंद्व स्वयं हार गया। उन्हें अपराजित भी कैसे कहें? वे तो सिर्फ अविजेय हैं जिनसे द्वंद्व ही नहीं हो सकता। इसका अनुपम प्रमाण यह है कि उनके कर्मकांड और वैदिक मान्यताओं के विरोधी होते हुए भी वे हिन्दू धर्म के अवतारों में से दसवें अवतार माने गए।

बुद्ध की प्रासंगिकता भी इसी में है कि किसी भी काल की परिस्थितियाँ उन्हें पराजित नहीं कर पातीं। उनका दर्शन हर युग में, उस युग की चेतना को सही मार्ग दिखाता है, और कोशिश करता है कि बुद्धि कहीं द्वंद्व में न उलझे, सवालों के जबाब बुद्धि की परिधि के भीतर ही खोज लिए जाएँ और जो परे हों, विवेक के, बुद्धि के गम्य न हो सकें मानस में, उन्हें दूर रखा जाए। ऐसे सवालों को अपने समय में बुद्ध ने "अव्याकृत विषय" कह कर टाल दिया था।

उनका सच बड़ा सहज था। जो बुद्धि को गम्य हो, सत्य वही है।

लेकिन उनकी भी वही विडम्बना रही, जो हर सच को उजागर करने वाले की होती है कि वे पूज दिए जाते हैं और उनका मौलिक सच उनकी मूर्तियों के शिल्प में क़ैद भर होकर रह जाता है। इस सच को प्रतिमाओं में समेट कर संप्रदाय खुद फैल जाते हैं, रीतियों और

विधानों के आडम्बर में वह सब कुछ खो जाता है, जो उनका मानवता के प्रति शाश्वत अवदान रहा।

बोधि वृक्ष आज भी है। लेकिन उसके तले क्या पाकर बुद्ध क्या बांट गए। यह बहुत कम हम जानते हैं।

बुद्ध हमारे दर्शन की उत्कृष्ट धरोहर हैं, विश्व इतिहास में ऐसे बिरले चिंतक हैं, जिन्होंने समता के धरातल पर समूची मानवता के लिए चिर शांति के उपाय खोजे, बुद्धि और कर्म को सर्वोपरि माना, जो सहज अपेक्षित है, मानव से। वे न तो भोग के चरम तक पहुँचे, न योग के, बल्कि ऐसा मध्यमार्गी पथ दे दिया बनाकर कि जिस पर चलते रहने से बाधाएँ स्वमेव दूर हो जाती हैं और वह सब कुछ पाया जा सकता है, जिसके लिए जन्मे हैं।

अपने महापरिनिर्वाण के पूर्व उन्होंने अपने समूचे दर्शन को व्याख्यायित करते हुए अपने परम शिष्य आनन्द से कहा' हे आनन्द ! तुममें से किसी का विचार यह हो सकता है कि शास्ता का प्रवचन अतीत हो गया, अब हमारा कोई शास्ता नहीं है, पर यह विचार उचित नहीं है। हे आनन्द तुम अपने लिए स्वयं दीपक होओ। धर्म की शरण में जाओ, किसी दूसरे का आश्रय मत खोजो। 'अप्पो दीप भव'। अपने शिष्यों से कहा कि मेरी बातों को सिर्फ इसलिए मत मानो कि वे मेरे मुख से निकली हैं, बल्कि इसलिए कि उन्हें तुम्हारी अपनी बुद्धि उचित समझती है। उन्हें जब बुद्धत्व की प्राप्ति हुई, तब भी उन्होंने इसका श्रेय किसी शक्ति को नहीं दिया। उन्हें जो बुद्धत्व मिला, वह उनकी स्वयं की बुद्धि का ही प्रतिफल था। स्रोत भी वही था, स्रोवस्विनी भी वही थी।

बुद्ध दर्शन का यही सार है कि वे केवल कर्म और बुद्धि को प्रधानता देते हैं। ज्ञान, शक्ति; योग और सारे कर्मकांड उनकी दृष्टि में गौण हैं। उनकी इस कसौटी पर चाहे मानव हो या देवता एक से परखे जाते हैं। उन्होंने देवताओं को मानवों से अलग ज़रूर माना लेकिन उनकी संकल्प शक्ति इतनी दृढ़ थी कि जब वे सन्यास के लिए राजमहल त्याग रहे थे, तब अपने कन्थक नाम घोड़े से उन्होंने कहा था 'तात! तू एक रात मुझे तार दे, क्योंकि उसके बाद तो मैं देवताओं समेत मनुष्यों को तारने वाला हूँ।'

बुद्ध ने देवताओं में भी अधूरापन देखा। उनकी पूर्णता सिर्फ कर्म में थी और बुद्धि में, जो मानव के अतिरिक्त अन्य प्राणियों में दुर्लभ है। कर्म और बुद्धि को जोड़ते समय उनकी पहली दृष्टि इस बात पर पड़ी कि मनुष्य दुखी क्यों है ? मानवीय संवेदना का मर्म दुख में निहित है और दुखी रहते न तो बुद्धि निर्मल हो सकती है और न ही कर्म सिद्ध हो सकता है। इसलिए उनका पहला प्रयास मोक्ष प्राप्ति का नहीं रहा, बल्कि यह रहा कि उन बाधाओं को खोजा जाए, जो बुद्धि को विमल बनाने के मार्ग में खड़ी हो जाती हैं।

उन्होंने अपने धार्मिक आधार में चार सत्य प्रतिपादित किये, पहिला यह कि दुख आर्य सत्य है। जन्म भी दुख है, जरा भी, व्यक्ति भी, बिछोह भी। किसी अपेक्षा का पूर्ण न होना भी दुख है। दूसरा यह कि सारे दुखों के मूल में कारण है, दुख अकारण नहीं होते, तीसरा यह

कि सारे दुख इन कारणों को दूर किये जाने पर स्वमेव दूर हो सकते हैं, इन कारणों से मुक्ति दुखों से मुक्ति है और यह कि इन कारणों से मुक्ति पाने के लिए आष्टांगिक आचरण हैं।

आष्टांगिक आचरण हैं, सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि।

समानता के धरातल पर इतने सहज, रूढ़िहीन और व्यावहारिक दर्शन को प्रतिपादित करने के कारण उनका 'धम्म' असाधारण रूप से लोकप्रिय हुआ। जातिवाद और कर्मकांड में लिप्त तथा रूढ़ियों के पाश में जकड़े समाज के लिए यह दर्शन एक नई राह थी। इस दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसने उन तमाम काल्पनिक चितनों के द्वार बंद कर दिये थे, जिनमें फंसे रह कर मनुष्य पारलौकिक सत्य खोजता है वह नहीं ढूँढ़ता जो इसी लोक में उसके हित में ही विद्यमान है। चीन के कन्फ्यूशियस की तरह वे भी अदृश्य वास्तविकताओं के प्रश्नों पर रोक लगाते थे। दीर्घनिकाय के पोठपाद सुत्त में वे कहते हैं, 'पोठ्ठपाद !' लोक नित्य है, यही सच है, और दूसरा मत निरर्थक है, लोक अन्तवान है। लेकिन बुद्ध ने अपने धर्म में वैदिक धर्म के जन्मान्तरवाद और कर्मफलवाद को यथावत स्वीकार किया। उनका सुनिश्चित मत था कि जब तक मनुष्य की वासनाएँ शेष हैं, उसका जन्म होता रहेगा। दुखों को बार–बार झेलने के लिए ही जन्म होता है।

बुद्ध को नास्तिक भी माना जाता है, क्योंकि उन्होंने किसी अदृश्य ईश्वर की कल्पना नहीं की। कोई प्रार्थना नहीं दी, इस ईश्वर की आराधना करने के लिए, क्योंकि ईश्वर का अस्तित्व बुद्धिगम्य नहीं था। महावीर और बुद्ध की मौलिकता इसी धरातल पर पृथक है कि महावीर आस्था से अपने दर्शन का समारंभ करते हैं और तथागत बुद्धि का शंख फूंक कर उसका उद्घोष करते हैं। बुद्ध आत्मा को भी नश्वर मानते हैं और पुनर्जन्म को आत्मा की प्रतिध्वनि। वे लगभग औपनिषदिक साधनाओं को माना करते हैं, लेकिन यह साधना स्वयं के लिए की जाने वाली साधना है, जिससे मन निर्मल होता है। इस साधना का प्रतिफल किसी अदृश्य शक्ति से साक्षात् करने का प्रयास नहीं होता। इस साधना का, समाधि का ध्यान का एक ही उद्देश्य है और वह है अपनी आत्मा की निर्मलता की प्राप्ति। बुद्ध का मोक्ष भी अप्रतिम है। मोक्ष के लिए साधना की पद्धति प्रायः वही है जो उपनिषदों में है, किन्तु बुद्ध की आत्मा और शरीर दोनों भिन्न नहीं हैं, दोनों एक हैं। वे अनात्म होते हुए भी आत्म है और अशेष रहते हुए भी शेष। ऐसा इसलिए है कि वे मध्यमार्गी हैं। उनकी दृष्टि में निर्वाण वासनाओं से मुक्ति का नाम है, निर्वाण ऐसी चिर शांति का नाम है, जो कभी भंग नहीं होती।

प्रथमदृष्टया बुद्ध का यह दृष्टिकोण विरोधाभासी प्रतीत होता है लेकिन वास्तव में ऐसा है नहीं। राहुल सांकृत्यायन ने बुद्ध की आत्मा की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है। उनके अनुसार हमारे सामने एक नदी है जो बहती है, उसका जल हमें बराबर एक सा दिखाई देता है किन्तु सत्य यह है कि जल निरंतर प्रवाहमान है इसी प्रवाह की तरह आत्मा का प्रवाह होता है जिसके जारी रहने से शरीर को सजीव कहा जाता है लेकिन शरीर के साथ चित्त प्रवाह का

विनाश नहीं होता वह संस्कारों के बोझ के साथ नये शरीर में प्रवेश करता है। इस दृष्टि से आत्मा नश्वर भी है और अनश्वर भी।

बुद्ध दर्शन इतना लोकप्रिय और व्यापक रहा कि उसने भारत के बाहर विशेषकर चीन, जापान, श्रीलंका, सुमात्रा, बाली आदि देशों तक अपने आपको विस्तीर्ण किया। बुद्ध का दर्शन चूंकि बुद्धि केंद्रित था इसलिए दर्शन और आध्यात्म के विद्वानों और चिंतकों ने उनके उपदेशों पर बहुत शोध की और उसकी गूढ़ता के अनेक आयामों से परिचित कराया। बुद्ध के बोधिसत्व रूपों की कल्पनाऐं की गईं, जातक कथाओं में उनके पूर्व जन्मों को वर्णित किया गया, बुद्ध के बाद उनके उपदेशों की अनेकों टीकाएँ लिखी गईं और आधुनिक युग में पाश्चात्य विद्वानों ने भी बुद्ध के दर्शन पर गहरी शोध की विलडूरांट, चार्ल्स, फाकूहर और मिस हेनरी, भारतीय विद्वानों में डॉ. राधाकृष्णन, कौसाम्बी, राहुल सांकृत्यायन और रजनीश तक ने बुद्ध को अपने अपने कोणों से देखा और परखा।

बुद्ध के बाद महायान, हीनयान और वज्रयान से लेकर सहजयान तक धार्मिक पंथों के रूप में बुद्ध के आख्यान हुए और अंत वहीं हुआ बुद्ध का जो उन सबका होता है जिन्होंने मौलिक सत्य की खोज की। बुद्ध का सच विहारों में, मठों में खोजा जाने लगा और उसकी मूल व्यावहारिकता दूर होती गई।

महावीर का दर्शन जितना सहज था उतना ही दुरूह माना गया और इतने कठोर आचारों और पद्धतियों में बांध दिया गया कि उनके अनुयायी उन्हें केवल पूजकर, मोक्ष के प्रति आश्वस्त होने लगे और बुद्ध का दर्शन जितना व्यावहारिक था वह इतना अव्यावहारिक होकर इतना विभाजित हुआ कि उसका अस्तित्व ही इस सदी के आतें उसी स्थान से विलुप्त होने लगा जहाँ से वह जन्मा था।

बुद्ध ने जिन्हें अव्याकृत कहा वे ही प्रश्न प्रासंगिक बनने लगे और बुद्ध की मौलिकता इन प्रश्नों के द्वंद्व में खो गई। लेकिन बुद्ध को जिन्होंने भाषा में नहीं खोजा, तर्क में नहीं ढूंढ़ा बल्कि छेनियों और तूलिकाओं में उनकी मौलिकता के दर्शन करने के प्रयास किये वे ज़्यादा सफल रहे और बुद्ध को उन्होंने जीवित भी रखा। अजन्ता की या बाघ की गुफाओं में जो तथागत मौजूद है वे बुद्धत्व के जीवंत साक्षी हैं।

बुद्ध को उकेरने वाले शिल्पियों और चितरों ने उनके व्यक्तित्व को ऐसा साकार किया है कि जिसकी उपमा ही नहीं दी जा सकती। मथुरा के गुप्तकालीन शिल्पबद्ध बुद्ध हों या अजंता के उकेरे गए बुद्ध और बोधिसत्व पद्मपाणि, ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे केवल करूणा ही प्रवाहित हो रही हो इन शिल्पांकनों और रूपांकनों में।

उपदेश देते तथागत के मुखमंडल पर विराजी अपूर्व शांति, गरिमा और उनकी आंखों में बसी करूणा उनके दर्शन की सहज अभिव्यक्ति है।

बुद्ध के व्यक्तित्व में ही उनका दर्शन बोलता है। अजंता में उनकी प्रतिमा के सामने या उनके रूपांकन के समक्ष खड़े होकर निहारें तो लगेगा कि तथागत का मौन वाचाल हो गया है, लगेगा कि उनकी आंखों से झांकती करूणा हमारे स्वयं के नेत्रों में समा जाएगी और उनके मुखमंडल पर विराजा अद्‌भुत तेज हमारे मन में बसे अहं के तिमिर को तिरोहिति कर देगा। हमें लगेगा कि हम स्वयं दीपक हो गए, दीप्त हो उठे स्वयं और एक अनूठे आलोक से हमारी आत्मा जगमगा उठी।

बुद्ध पूर्णिमा की रात अपने पूर्णाकार में चंद्रमा जब आकाश में खिल उठेगा तब उसकी चांदनी की शीतलता से इस बार यह आकांक्षा करें कि वह बुद्ध की करुणा को संजो ले अपने में और आगामी भोर इस करूणा के ओस कणों की ऐसी साक्षी बने जो अपनी असंख्य संख्या में बिखरे मिलें मानवता के धरातल पर। बुद्ध न तो अवतार थे, न ईश्वर, वे सिर्फ मानव थे ऐसे व्यावहारिक मानव जिन्होंने धर्म को व्यावहारिक रूप में देखा और उसी रूप में उसे बांट दिया। उन्हें ईश्वर मानना, ऐतिहासिकता के साथ साथ बुद्धत्व से भी द्रोह होगा।

वे सहज मानव थे, ऐसे सहज जैसे कि पुष्प जो खिल जाता है और जिसकी पांखुरियों में बसा सौरभ उसके डाल पर रहते भी फैलता रहता है और उसके झर जाने के बाद भी।

सर हरीसिंह गौर ने शायद इसीलिए ऐसे महामानवों के लिए कहा था।

परहित के निमित्त जो तत्पर
जिनको घृणा न द्वेष
मधुर प्रेम के आलिंगन में, लिपटे हुए अशेष
पुखराजी पांखुरियों को जो खोले नभ की ओर
इनसा जिऊं, मरूं भी इन सा अक्षय सौरभ छोड़

6

बुद्ध : करुणा और कर्म के यात्रा पुरुष

समूचे विश्व में बुद्ध को जहाँ देखो वहाँ उनके मुखमंडल पर शांति की आभा, सत्य का तेज और निश्छल ज्ञान का हल्का स्मित तैरता दिखाई देता है। लेकिन बुद्ध की आँखों को देखो तो वे बड़ी विलक्षण प्रतीत होती हैं। बुद्ध की ये बड़ी–बड़ी आँखें चाहे वे सारनाथ, मथुरा, जावा या लंका में छेनी से उकेरी गई हों, या तूलिका से अजन्ता में रूपायित की गई हों, ऐसी प्रतीत हैं, जैसे दो विशाल घटों से करुणा की दो गंगाएँ छलक उठी हों।

बुद्ध की आँखों से छलकती करुणा ही बुद्ध का बुद्धत्व है, कभी–कभी तो ऐसा लगता है कि तथागत यदि कुछ भी नहीं बोलते और जनमानस उनके ये करुणामय नेत्र ही भूरपूर देख लेता तो भी इन नेत्रों में समाई करुणा इतनी सशक्त थी कि वह बिना किसी भाषा के माध्यम के मानवता को अपना अमूल्य अवदान दे देती।

करुणा बुद्ध के दर्शन का मौलिक तत्त्व है। मैत्री, अहिंसा और साधना बौद्ध दर्शन के आधार तत्त्व हैं, लेकिन इन सबमें सर्वोपरि करुणा है, क्योंकि सिद्धार्थ से बुद्ध बनने की प्रक्रिया में गौतम को सबसे ज़्यादा सांसारिक दुःख ने आन्दोलित किया। वे बीमार व्यक्ति को, मृत्यु को प्राप्त हुए व्यक्ति को और सन्यासी को देख कर विचलित हुए थे। वे इस नतीजे पर पहुँचे कि इनके मूल में केवल दुःख है, जहाँ दुःख है, वहाँ तो करुणा ही उपजेगी। बुद्ध ने अपने धर्म के जो चार आर्य सत्य बतलाए उनकी धुरी दुःख थी। उनके चार आर्य सत्य थे, दुःख आर्य सत्य है, दुःख समुदाय आर्यसत्य है, दुःख निरोध आर्य सत्य है तथा दुःख निरोध गामिनी प्रतिपद आर्य सत्य है। इन चार आर्य सत्यों की व्याख्या करते हुए दुःखों के कारणों का नाश करने का आष्टांगिक मार्ग तथागत ने सुझाया। उन्हें जब बुद्धत्व की प्राप्ति हुई, तब उन्हें मुक्ति के मार्ग के रूप में कर्म पर आधारित बुद्धि ही उपयुक्त लगी और यह प्राप्ति उस करुणा का उत्स बनी जो बुद्ध की आँखों से फूट पड़ा।

बौद्ध दर्शन बुद्धि पर आधारित है। जिन प्रश्नों के उत्तर बुद्धि से नहीं दिए जा सकते, उन्हें तथागत अव्याकृत विषय कह कर टाल देते हैं। उनकी धार्मिक अवधारणा कर्म के आधार स्तंभ पर टिकी है। वे बुद्धि और कर्म की सार्थकता में मानवीय मोक्ष का आयाम खोजते हैं। वे वैदिक हिंसा और यज्ञ की रूढ़ियों के खिलाफ हैं, लेकिन जन्मान्तरवाद और कर्मफलवाद को, जो हिन्दुत्व के आधारभूत तत्व हैं, उन्हें वे ज्यों–का–त्यों स्वीकार करते हैं। इसलिए बुद्धत्व कई मायनों में तात्कालिक हिन्दुत्व का ही परिष्कृत रूप माना गया और बुद्ध की गिनती भी हिन्दुओं के दस अवतारों में से एक अवतार में हुई।

यह बड़ा प्रासंगिक सवाल कौंधता है, दिमाग़ में कि जिस धर्म का आख्याता बुद्धि और कर्म को प्रधानता देता हो, उसका रूप तो बड़ा रूखा सूखा होना चाहिए। फिर बुद्ध क्यों इतने करुण हैं? करुणा तो एक ऐसा भाव है, जिसे बुद्धि नहीं जन्मती, मन जन्मता है और फिर

जिस सिद्धार्थ ने अपने मन को पाषाण बनाकर कपिलवस्तु का वैभव त्यागा, आधी रात में सोती अपनी पत्नी यशोधरा और अनदेखे शिशु राहुल से नाता तोड़ लिया, उसे जब बुद्धत्व मिला, तो वह इतना करुणामय क्यों हो उठा ?

दरअसल बुद्ध की करुणा भी बुद्धि से जन्मी थी, यह करुणा यदि मन से जन्मती तो बड़ी दुर्बल होती, क्योंकि वह मोह में लिपटी करुणा होती।

ऐसी दुर्बल करुणा का दायरा बड़ा सीमित होता, जिसमें व्यष्टि की प्रधानता होती, समष्टि की नहीं, मग़र बुद्ध की करुणा की परिधि बड़ी विशाल थी, जिसमें समूची मानवता समाती थी। उनकी करुणा के धरातल पर वर्ण या वर्ग का भेद नहीं था। सभी के दुःख तथागत के अपने दुःख थे और इसीलिए उनके उपदेश किसी एक संप्रदाय विशेष के लिए न होकर सारे समाज के लिए थे। तात्कालिक समाज बुद्ध के इस व्यावहारिक, मध्यमार्गी और करुणा के संवेदनशील धरातल पर टिके दर्शन से बहुत प्रभावित हुआ। उस वर्ग के लोग ख़ासतौर पर उनकी ओर खिंचे जिन्हें तात्कालिक हिन्दुत्व की संकीर्णता तिरस्कृत करती थी। बुद्ध अतिवादी नहीं थे। वे अतिभोग और अतियोग दोनों के ही विरुद्ध थे। वे सुलझे हुए चिन्तक थे और लोक को ही नित्य मानते थे। अंध–विश्वासों, रूढ़ियों और अंधी आस्था से उन्हें कोई सरोकार नहीं था।

दीर्घनिकाय के पोट्ठपाद सुत्त में वे कहते हैं, 'पोठपाद। लोक नित्य है, यही सच है और दूसरा मत निरर्थक हैं'।

इस दृष्टि से बुद्ध अद्‌भुत हैं। उन्होंने ज्ञान मार्ग या भक्ति मार्ग को प्रधानता नहीं दी जिससे जनमानस को यह खतरा पैदा हो जाता कि वह दूसरे लोक की काल्पनिक अवधारणाओं के सपनों में खोकर अकर्मण्य हो जाए। उन्होंने इसी लोक को सच माना और यह शिक्षा दी कि केवल कर्म का मार्ग ही ऐसा मार्ग है, जो मुक्ति के लक्ष्य तक पहुँचाएगा। उन्होंने सब कुछ नश्वर माना, और आत्मा के संबंध में भी यह कहा कि वह देह की भाँति, जन्मती और बूढ़ी होती है जीवन एक अग्नि की तरह प्रज्जवलित होता है और जब ईंधन निःशेष हो जाता है, तो सब कुछ समाप्त हो जाता है।

आत्मा के संबंध में प्रश्न पूछने पर बुद्ध ने अपने शिष्य को समझाया था कि जब हम ताली बजाते हैं तब दूर की कन्दरा में प्रतिध्वनि होती है तो हम क्या यह कहें कि हमारे करतल कन्दरा में विद्यमान हैं ? इसी प्रकार आत्मा तो नष्ट हो जाती है किन्तु उसके संस्कार, प्रतिध्वनि के समान, पुर्नजन्म ग्रहण करते हैं।

आत्मा की इस बौद्धिक व्याख्या को पाश्चात्य विद्वानों ने एक दूसरा ही रूप देकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि बुद्ध दर्शन अनात्मावादी है, लेकिन वास्तविकता यह है कि उनका दर्शन वैज्ञानिकता के ज़्यादा निकट है। आत्मा की निर्मलतम अवस्था की प्राप्ति के लिए पुर्नजन्म आवश्यक है। आत्मा भी सीधे कर्म से जुड़ी है और अच्छे कर्मों की परिणति आत्मा की

निर्मलता में होगी। आत्मा के संस्कार अपने पवित्रतम स्वरूप को पा लें, इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पुर्नजन्म ज़रूरी है।

बुद्ध के दर्शन का बहुत मंथन हुआ, क्योंकि वह बुद्धि पर आधारित दर्शन था। बुद्ध के स्वयं के समय तक व बाद की अनेक शताब्दियों तक यह बड़ा ग्राह्य बना रहा, क्योंकि बुद्धि पर आधारित होते हुए भी यह बड़ा सहज और संप्रेषणीय था। बुद्ध की भाषा तात्कालिक लोक भाषा थी और उनके अनुयायी उस वर्ग के लोग थे, जिनके सीधे सरोकार कर्म से थे। आभिजात्य के आवरणों से बुद्ध बहुत दूर थे और उनका सारा संघर्ष इसी बात को ले कर था कि जनमानस अंधी आस्था, रूढ़ियों, अंधविश्वासों और शोषण के जाल से मुक्त होकर मुक्ति के लिए सहज जीवन पद्धति को कैसे अपना ले ? निश्चय ही अपने इस सार्थक संघर्ष में बुद्ध सफल रहे, लेकिन कालान्तर में चिन्तकों की पीढ़ियों ने उन्हें अगम्य बना दिया। हीनयान और महायान जन्में। बाद में वज्रयान जैसी भी एक विकृत शाखा फूटी जो वाममार्गी थी। सहज दर्शन जब अगम्य बनता जाता है, तो फिर उसकी ओर सहज लोकमानस आकृष्ट नहीं होता। बुद्धधर्म गृहस्थों के लिए भी था, लेकिन बाद में वह केवल संन्यासी बौद्धों और विहारों तक सीमित रह गया।

आज के यांत्रिक युग में बुद्ध के बौद्धिक दर्शन की व्याख्याओं को पढ़ने और समझने का समय किसी के पास नहीं है, लेकिन कर्मों के लिए समय है, उन्हीं कर्मों में बुद्ध को पाया जा सकता है। शुद्ध कर्म और बुद्धि की सक्रियता में तथागत खोजे जा सकते हैं।

बुद्ध की आचार पद्धति इतनी सहज और ग्राह्य है कि उसमें किसी अनुष्ठान या पूजा अर्चना की आवश्यकता नहीं। अपने मानस की परिधि को विशाल बना लेने से और अपने आपको संकीर्ण सोच से परे कर लेने पर बुद्ध के बहुत क़रीब आया जा सकता है। हमारी संवेदनाएँ मुखर हों और चिन्तन स्वस्थ हो तो बिना किसी मठ में जाए बुद्ध मिल जाएँगे।

'धम्म', कर्म का पर्याय है वह न तो रूढ़ियों का पर्याय है न ही अनुष्ठानों का।

कर्म के प्रति निष्ठा उनके 'धम्म' का आधारभूत संदेश है। उनके दर्शन में करुणा की आत्मा का बसेरा है। तर्क के शुष्क रेगिस्तान की रेत में चलते उनके दर्शन के मूल तक नहीं पहुँचा जा सकता।

बुद्ध को पाने के लिए तो उनकी आंखों में झाँकना होगा और उन आँखों से जो करुणा की गंगाफुटी है, उसमें अपने आपको आकंठ डुबो लेना होगा। बुद्ध ने यह करूणा राहुल और यशोधरा को त्यागकर समूची मानवता के लिए प्राप्त की थी और इसलिए प्राप्त की थी कि जो भी तथागत् की इस करुणा को पा ले, उसे कभी अपने राहुल और यशोधरा को त्यागना न पड़े।

बुद्ध के स्मृति पर्व सदियों से मनते चले आ रहे हैं और वे भविष्य में भी मनते रहेंगे, लेकिन उन्हें मना लेने और उनके कहे को मान लेने में बहुत फर्क है। मना लेने और मान

जाने के बीच का अंतराल बहुत बड़ा है, यह अंतराल जिस दिन भी खत्म हो जाएगा, इस महान् शास्ता की स्मृति भी उसी दिन से जीवंत बन हम सबमें स्पंदित होने लगेगी।

तब बुद्ध हम सभी में विराजे, मिलेंगे उनकी आँखें हमारी आँखें होंगी और उनसे झरती करुणा हमारी अमूल्य निधि होगी, ऐसी अमूल्य निधि जिसे सहेजकर रखने की बजाय हरेक उसे बांटना चाहेगा। कोशिश करें कि हम आज ही इस निधि को समेट लें।

7

महावीर – आचरण में दर्शन के प्रतीक

"दर्शन" बड़ा कठिन शब्द है। इसमें अक्षर सिर्फ तीन हैं लेकिन इन तीनों के मिलन से जो दुरूहता पैदा होती हैं, जो बोझिल एहसास जन्म लेता है उसे हमारी आज की मानसिकता नहीं झेल पाती। इसलिए जब कभी किसी दार्शनिक का जिक्र आता है तो उसके साथ कई मजाकिया क़िस्से जोड़ दिए जाते हैं। दर्शन की गूढ़ता ने उसके अन्दर समाई सहजता को बहुत परे कर दिया और इसका एक स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि दर्शन से जुड़े सहज व्यक्तित्व हमसे और भी दूर होते गए, इतिहास कुछ इस तरह मुड़ा कि उसने इन व्यक्तित्वों को, उनके आचरण को जन सामान्य से दूर कर दिया और उन पर अपने आख्यानों के इतने आवरण डाल दिए कि इन व्यक्तियों की सहजता ढँक गई और ये आवरण ही उनके दर्शन कहलाने लगे। ऐसे दर्शनों ने इन महान व्यक्तियों के सहज आचरण को ही अगोचर और अदर्शनीय बना दिया।

ऐसी ही एक त्रासदी "महावीर" के साथ भी घटी। उनके सहज दर्शन ही दुर्लभ हो गए, उनका कथित दर्शन उनको ढांक गया, वे अगोचर हो गए, महावीर तो आवरणहीन थे लेकिन उन्हें दर्शन के आवरणों ने ढांक कर हमारी आंखों के सामने से उन्हें ओझल कर दिया। यदि सही मायनों में सोचा जाए तो मालूम होगा कि महावीर का तो कोई गूढ़ दर्शन ही नहीं था। वे तो स्फटिक मणि की तरह थे जिसके आर–पार सब कुछ दीखता है और जिसकी निर्मलता को कोई चुनौती नहीं दे सकता। उनका आचरण इतना सहज, निर्मल और पारदर्शी था कि उसमें कहीं कोई जटिलता, रहस्यमयता या दोहरापन नहीं था। हाँ वह आचरण था बड़ा कान्तिवान और उज्ज्वल इसलिए जब हमारी आँखें इस कान्ति को झेल नहीं सकीं तो वे मुंद गईं और हमने महावीर के सहज आचरण में दुरूह दर्शन खोज लिया, रूढ़ियाँ खोज लीं।

महावीर जैसे सहज और महान इतिहास पुरुषों की यही विडम्बना है कि वे जन्मते हैं एक भोर की लाली लिए लेकिन यह लालिमा सांझ के आंचल के रूप में ग्रहण कर ली जाती है और बजाय आलोक के हमारा साक्षात् अंधकार से होता है।

महावीर न तो संत थे, न साहित्यकार और न ही कोई राजनैतिक पुरुष। यदि वे आज के परिवेश में जन्मे होते तो बहुत मुमकिन था उन्हें किसी बाद से जोड़ दिया जाता और उन्हें एक विशेष चिन्तन शैली या आचरण पद्धति का प्रर्वतक मानकर ऐसी प्रतिष्ठा दे दी जाती जो विरोध और समर्थन के स्वरों के बीच अपने आपको क़ायम रखने की कोशिश करती, उससे लोग अपने स्वार्थी के कारण जुड़ते और साम्प्रदायिकता के नए समीकरण बन जाते। ऐसा इसलिए होता क्योंकि हमारी दृष्टि इतनी संकीर्ण हो चुकी है कि इन सांचों के अलावा हमारे स्वतंत्र सोच के सारे झरोखे बंद हैं। यह इतिहास का सौभाग्य है कि महावीर तब जन्मे जब हमारे समाज की संवेदना का धरातल बड़ा सहिष्णु था। जैन धर्म और बौद्ध धर्म के अनुयायी इतनी विशाल संख्या में होते हुए भी कभी आपस में लड़े नहीं बल्कि मथुरा हो या अजन्ता,

एलोरा एक ही काल में इन स्थानों पर हम जैन, बौद्ध और हिन्दू धर्मों के आराधना पुरुषों का उत्कृष्ट शिल्प पाते हैं, रूपांकन पाते हैं और ताज्जुब करते हैं कि एक ही स्थल पर अलग–अगल धर्मों ने अपनी उपासना पद्धति को अपनाते हुए अपने उत्कर्ष को पाया कैसे ?

इसका और कोई कारण नहीं सिवाय इसके कि तात्कालिक समाज की संवेदना बड़ी उदार थी, सहिष्णु थी और पूरी तरह संकीर्णता के सोच से मुक्त थी।

महावीर की तरफ तात्कालिक जनमानस इसलिए आकृष्ट नहीं हुआ क्योंकि उनके पास कोई चमत्कार था। वह इसलिए उनकी ओर उन्मुख हुआ क्योंकि वे बड़े सरल और सहज लगे, ग्राह्य लगे और उनकी दृष्टि में मानव की समानता पहिली प्राथमिकता रही। वर्ग भेद, वर्ण भेद और जाति भेद जैसी संकुचित प्रवृत्तियों से वे ऊपर थे।

उनकी वाणी में इतनी उदारता थी कि वे हिन्दुओं में भी उतने ही समादृत और आदरणीय थे जितने उनके अनुयायियों में, इसका कारण यह था कि हिन्दुत्व के मौलिक तत्व उनके आचरण और वाणी के मौलिक तत्व थे। अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह की जो बातें उन्होंने जोर देकर कहीं और समानता के व्यापक धरातल पर जो मानव को प्रतिष्ठित करने का उन्होंने आव्हान किया वह अद्वैतवादी हिन्दुत्व के बहुत निकट था। उन्होंने सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र का जो उपदेश दिया वह इतना ग्राह्य था कि हरेक अपने आचरण में उसे बड़ी सरलता से उतार सकता था। व्यक्ति उदार बने, दुराग्रही न हो, और सच के सिर्फ एक ही आयाम को पकड़कर न बैठ जाए, यह उनका स्याद्वाद का उपदेश था और अनेकान्तवाद के माध्यम से भी उन्होंने यही कहा था कि वह वास्तव में अहिंसा की चरम परिणति है। इन सारी बातों को अपने आचरण में उतारने के लिए उन्होंने कर्म को प्रधानता दी और उसे सर्वोपरि माना। अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के द्वारा उन्होंने यह स्थापित करने की कोशिश की कि समानता, चारित्रिक दृढ़ता और झूठे मोह से मुक्ति के यही साधन हैं और इन सारे उपदेशों को उन्होंने अर्द्धमागधी में कहा जो उस समय की लोकभाषा थी और राजा से रंक तक जिसे त्यों का त्यों समझते थे। यदि वे संस्कृत में यह बात कहते तो उसकी आभिजात्यता महावीर को लोकमानस में प्रतिष्ठित हीं नहीं कर सकती थी। वे राजप्रासाद से उतरकर सामान्य लोगों के बीच, उन्हीं की भाषा में बोले, उनकी यह लोकवाणी, कण–कण की कर्मवाणी बन गई और बिना किसी अस्त्र या शस्त्र के उन्होंने उस आभिजात्यमय शोषण को जीत लिया जो अपराजेय समझा जाता था।

उनकी कर्मवाणी का झरना अहिंसा के गोमुख से फूटता था, जो उनके सहज आचरण की मूल आत्मा थी। यह अहिंसा नई नहीं थी, प्राग्वैदिक थी और ब्राह्मण ग्रन्थों में, "या हिस्यात् सर्वभूतानि" (किसी भी जीव को मत मारो) कहते हुए इसकी प्रतिष्ठा गाई गई थी। महावीर ने इस खोई अहिंसा को अपने आचरण और चरित्र में उतारकर इसकी महिमा से और इससे प्राप्त होने वाले फल से समूचे जगत् को परिचित कराया। अहिंसा का पुर्नजागरण उस काल की ऐसी महान आध्यात्मिक घटना थी जिसने तात्कालिक लोकमानस का मनोविज्ञान बदल दिया और लोग फल प्राप्ति के लिए एक नए मार्ग पर चल पड़े।

महावीर की दूसरी सबसे बड़ी उपलब्धि थी आस्था का उदय। वे आस्था को अकर्मण्यता से नहीं जोड़ते थे। उनकी आस्था इस विश्वास में निहित थी कि अपने आपको इतना कर्मठ और संघर्षशील बनाओं कि खुद परिस्थितियों के दास न रहो। तुम्हारे कर्म से जब परिस्थितियाँ पराजित होंगी तो उनकी यह पराजय तुम्हारे हृदय में वह विश्वास पैदा करेगी जिसे आस्था कहते हैं। आस्था यदि सिर्फ अनुष्ठानों से पूजा से या आडम्बरों से जोड़ी गई या उसे इनके माध्यम से उपजाने का प्रयास किया गया तो वह फलहीन होगी बल्कि वह आस्था ही नहीं होगी। उनकी यह बात भी तात्कालिक लोक मानस को बहुत भायी क्योंकि उस समय का समाज ऐसे अर्कमण्य अनुष्ठानों से ऊब चुका था, उसकी चेतना तो गतिशील थी लेकिन उसकी गति को रोकने के लिए अवरोध बहुत थे। महावीर यदि सिर्फ उपदेश ही देते तो उसकी कोई सार्थकता नहीं थी क्योंकि उस युग में भी उपदेशक बहुत हो गये थे और ऐसे लोग सिर्फ गिने–चुने थे जो कर्म के कठिन पथ पर सुगम रूप से चलने का रास्ता सुझा पाते। महावीर ने इस कर्म को अपने आचरण में उतारा, परिस्थितियों को पराजित किया और इस तरह आस्था के सच्चे अर्थों से जनमानस को परिचित कराया।

महावीर की एक अन्यतम उपलब्धि थी तप की प्रतिष्ठा। तप को जिन रूढ़ अर्थों में लिया जाता है वह रूढ़ धारणा महावीर की नहीं थी। तप साधना का एक प्रकार था और यह साधना गृहस्थ के रूप में भी की जा सकती है और तपस्वी के रूप में भी, ऐसी मौलिक आवधारणा उन्होंने दी। तप का सहज आशय यही था कि मनुष्य अपनी साधना से अपने कर्म पथ पर चले और अपनी इन्द्रियों पर अपना नियंत्रण रखते हुए अपनी कर्ममय आस्था को अक्षत रखे। इन्द्रियों पर नियंत्रण कर लेने का अर्थ अपने अस्तित्व को बिखरने से बचाना है और इस अस्तित्व में समाई क्षमता को समृद्ध करना है। तप के संबंध में महावीर की मूल आवधारणा बड़ी सरल थी लेकिन वे स्वयं बहुत बड़े तपस्वी थे और उनकी साधना कठिन रही इसलिए उनकें तप की धारणा को बड़ा रूढ़ कालान्तर में मान लिया गया। इसी तप से जुड़ी बात "आस्त्रव" में थी जिसका सीधा अर्थ था कि मानव अपने मन को काबू में लाए, चित्तवृत्तियों का निरोध करे, मन की शांति के लिए सहज योग की समाधि का अवलम्बन ले और इस तरह तपश्चर्या में लीन रहे।

महावीर के ये सारे विचार उनके आचरण में उतरे और उनका आचरण एक आदर्श जीवन पद्धति का पर्याय बन गया, लेकिन कालान्तर में यह सहज आचरण, आचरण नहीं रह पाया वह दुरूह होता गया, उसे पंडितों ने दर्शन में बांध दिया, पुरोहितों ने पूजा में बांध दिया और "महावीर" महावीर होते हुए भी अपने आप से पराजित हो गए। एक सहज प्रवाह बंध गया और उसकी तरंगें आपस में टकराने लगीं। इस टकराव में महावीर का आचरण खो गया और रूढ़ियों की चिन्गारियाँ इस टकराव के घर्षण से फूटीं।

आज सवाल यह नहीं है कि हम क्यों महावीर के आचरण और उनकी शिक्षाओं से दूर हैं क्योंकि यह सवाल, नहीं सच है, सवाल यह भी नहीं है कि ऐसा हुआ क्यों? क्योंकि यह तो हो चुका और इसकी ज़िम्मेदारी हमारी उन गुज़री पीढ़ियों पर है और हम पर भी जिन्होंने

महावीर की सहजता को इतना दुरूह बना दिया। सवाल सिर्फ यह है कि ऐसा कैसे हो सकता है कि महावीर हममें से हरेक के अन्दर जन्म जाएं और हमारे आचरण में उनके कर्म की सार्थकता साकार हो सके ?

इस सवाल का उत्तर खोज लेना ही आज की प्रासंगिक आवश्यकता है। वैसे यह उत्तर खोज लेना कोई कठिन कार्य नहीं है क्योंकि इसका उत्तर खोजने हमें किसी तीर्थ में नहीं जाना है, किसी दुरूह और अगम्य दर्शन में नहीं जाना है। इसकी खोज जो अपने आप में ही हो जाएगी। ज्यों–ज्यों हम अपने पर चढ़े छद्म, आभिजात्य, दंभ, असत्य, हिंसा और परिग्रह के आवरणों को उतारते जाएंगे, त्यों–त्यों हम उस कर्ममय आस्था और सत्य के निकट होंगे जो महावीर के आचरण के मौलिक और दिव्य तत्व थे।

सत्य, अहिंसा, क्षमा, अपरिग्रह, संयम, तप और त्याग महावीर के निर्माण तत्व थे, वे उनके आवरण नहीं थे इसलिए आवरणहीन महावीर इन्हीं तत्वों साकार रूप में दीख पड़ते हैं। हिंसा, असत्य और परिग्रह तत्व नहीं, वे तो एक निर्मल देह को ढांक लेने वाले मलिन वस्त्र हैं, जिन्हें त्याग देने का आग्रह महावीर ने किया था।

इसलिए महावीर के सच्चे दर्शनों के लिए, उस दर्शन से अपने आपको परे करना होगा जिसमें लिपटकर महावीर हमसे दूर हो गए हैं।

महावीर का हर स्मृति पर्व मुझे उनके दर्शन के लिए प्रेरित करता है, लेकिन मन पर चढ़े ये ढेरों आवरण मेरा रास्ता रोक लेते हैं, मैं एकाध वस्त्र ही उतार पाता हूँ कि मन फिर उस वस्त्र को खींच कर अपने तन पर ढांक लेता है और इसी विवशता में महावीर बस याद भर आ जाते हैं, अपने कर्म में उनका आचरण आबाद नहीं हो पाता।

एक बीज धरती के गर्भ में समा ज़रूर जाता है पर अंकुरित नहीं हो पाता। आचरण के इस अंकुरण की प्रतीक्षा अभी जारी है और इसके साथ ही इस प्रतीक्षा के अंत का इंतज़ार भी है।

उम्मीद करें इस इंतज़ार का अंत बहुत जल्दी हो क्योंकि जितनी यह प्रतीक्षा लम्बी होगी हमारी आगामी पीढ़ियों के भविष्य पर पड़ी अंधकार की चादर भी लम्बी होती जाएगी।

हमें आचरण की दृष्टि चाहिए और उसके लिए उजाला बेहद ज़रूरी है।

8

महावीर : मानवता के प्राणों की धरोहर

दुनिया में रोज़ असंख्य जन्म होते हैं। हर जन्म के साथ एक नया जीवन अस्तित्व में आता है लेकिन ये असंख्य जीवन सिर्फ सांसों के समूह भर बने रह जाते हैं, ऐसे समूह जो इतिहास के अनगिनत मोड़ों में से किसी एक पर थोड़ी देर ठहरकर बिखर जाते हैं और दुनिया सांसों के इन समूहों की भीड़ में डूबी भर रहती है।

लेकिन यह भी इतिहास का एक अनोखा और शाश्वत सच है कि सांसों के इन समूहों के सैलाब में डूबी तंद्रिल दुनिया को उसकी अचेतनता से उबारने वाली भी चंद बिरली सांसें ही होती हैं।

ये सांसें समूह में नहीं होतीं बल्कि समूह इनमें और इनके पीछे होता है। ये अपने जन्मते ही विश्व की समूची सुषुप्त संवेदना को झकझोर देती हैं, उसे आन्दोलित कर देती हैं, उसके थमे प्रवाह को आलोड़ित कर उसमें भंवर पैदा कर देती हैं और तब इस झटके से एक नए उन्मेष को लिए दुनिया खड़ी हो जाती है, उसकी तंद्रा भंग हो जाती है और समय के ऐसे ही युगान्तरकारी मोड़ पर इन विरल सांसों की फूँक से इतिहास का पांचजन्य किसी महावीर की अमर वाणी के नाद से सृष्टि को गुंजित कर देता है।

बहुत कम होता है ऐसा जब असंख्य जन्मों में से कोई ऐसा विलक्षण जन्म हो जो जीवन और जगत दोनों को सार्थक कर दे।

जन्म लेकर अपने जीवन को सार्थक करने वाले कई हैं लेकिन ऐसे बहुत कम जिन्होंने अपने जीवन के साथ–साथ सारे जगत के जीवन को सार्थक कर दिया हो।

महावीर जन्म, जीवन और जगत इन तीनों की सार्थकता का कालजयी नाम हैं। वे सत्य के ऐसे अपराजित योद्धा हैं जिनके तूणीर में अहिंसा, क्षमा, आर्जव, मार्दव, सत्य, संयम, तप, त्याग, अकिंचन और ब्रह्मचर्य के ऐसे तीर हैं जिनके प्रहारों से काल हारा, नियति हारी और वह सब कुछ पराजित हो गया जिसके रहते दुनिया का अस्तित्व ही पराजित हो जाता।

उनके सत्य के महान पौरूष ने समूचे तात्कालिक असत्य और हिंसा को जीता और वे वर्द्धमान से महावीर हो गए।

इस परिप्रेक्ष्य में महावीर किसी एक समुदाय विशेष की धरोहर नहीं हैं। यदि सच सबका है, अहिंसा सबकी है, क्षमा सबकी है तो फिर महावीर एक विशेष समुदाय के नहीं हो सकते और न ही वे जाति या संप्रदाय विशेष के हो सकते हैं। समूची मानवता को समर्पित महावीर सिर्फ समूची मानवता के ही हो सकते हैं। उनके अपरिमित योगदान और कृतित्व को सीमाओं में बाँधना हमारी ही क्षुद्रता है, उन्हें संकीर्णता में देखना सही मायनों में अपनी आँखों की निश्छलता को धोखा देना है।

महावीर हर मानवीय जीव की आँखों में झिलमिलाते एक अलौकिक आलोक के प्रतिबिंब हैं।

हमारे सोच की यही सबसे बड़ी विसंगति है कि वह ज्यों–ज्यों अधुनातन होता जाता है उतना ही रूढ़िगत रूपों में पुरातन भी होता जाता है। धर्म का मर्म छुपता चला जाता है तहों में और ये तहें संप्रदाय बन जाती हैं, पंथ बन जाती हैं, संकीर्ण उद्‌गारों के मंच बन जाती हैं।

अर्चना होती है पर उसमें भाव नहीं होते, ध्यान आरती और कलश की चमक की तरफ होता है। आराधना के लिए प्रार्थना के स्वर फूटते तो हैं लेकिन कंठ से निकली आवाज़ें वाद्यों के शोर में डूब जाती हैं।

चमकते कलश और शोर करते वाद्यों के बीच महावीर कहाँ खो जाते हैं मालूम नहीं पड़ता। यह विडम्बना अकेले महावीर के साथ नहीं बुद्ध से कृष्ण तक के साथ है। वे सिर्फ दैवीय व्यक्तित्व भर बने रह गए हैं जो समय–समय पर पूज दिए जाते हैं, उनके मूल्य क्या रहे इससे हमें कोई सरोकार नहीं रहता क्योंकि हमारे इस आधुनिक सोच ने उन अमूल्य मूल्यों का भी नगदीकरण कर दिया जिसके कारण अपरिग्रह, परिग्रह में बदला अहिंसा हिंसा में एकता विभाजन में, क्षमा प्रतिद्वंद्विता में और सहिष्णुता संकीर्णता में, ऐसा इसलिए भी हुआ कि महावीर के तप, त्याग और निष्ठामय कर्म को हम अपने में उतार नहीं पाए और उसकी कोशिश भी नहीं की क्योंकि यह दुष्कर था, हमारी सुविधा और हमारे आभिजात्य पर प्रहार करता था। तब सरल सिर्फ यह रहा कि उन्हें पूज दिया जाए और उन्हें ऐसे देवत्व से आवेष्ठित कर दिया जाए कि हम उनके अकिंचन भक्त भर बने रहें।

इसलिए महावीर स्मरणीय बने रहे लेकिन व्यवहार मूल्यों में ग़ैर प्रासंगिक हो गए।

ऐसा क्यों हुआ ? इसका उत्तर तो सहज है कि ज्यों–ज्यों हमारी चारित्रिक और नैतिक दृढ़ता में कमी आती गई, हम उतने ही महावीर से दूर होते गए लेकिन महावीर के उन सहज मूल्यों की परम्परा से, उन मूल्यों से स्वयं को परिचित कर लेना भी आज के परिप्रेक्ष्य में बेहद ज़रूरी है क्योंकि वे हमारे मानसिक उन्नयन के बंद द्वार खोलने में बहुत सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

वर्द्धमान महावीर एक ऐतिहासिक पुरुष हैं। वे ईसा पूर्व 599 में वैशाली के राजघराने में जन्में और 62 वर्ष की आयु में निर्वाण को प्राप्त हुए। वे जैन धर्म की परम्परा में चौबीसवें तीर्थंकर हुए उनके पूर्व के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ थे जो महावीर और बुद्ध से लगभग 250 वर्ष पूर्व जन्मे, पार्श्वनाथ के पूर्व बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ हुए जिन्हें कृष्ण के चचेरे भाई के रूप में माना जाता है। अनेक जैन ग्रन्थों में नेमिनाथ को कृष्ण का गुरु बताया गया है। कृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिया उसमें जैन धर्म के मौलिक तत्व स्पष्ट दीख पड़ते हैं। यज्ञ के संबंध में कृष्ण ने अर्जुन से जो कहा उसके अनुसार यज्ञ की दक्षिणा धन नहीं नहीं वरन् तपश्चर्या, दान, ऋजु भाव अहिंसा और सत्य हैं। नेमिनाथ के पूर्व की तीर्थंकर की परम्परा में अरिष्टनेमि और ऋषभदेव आते हैं जिनका उल्लेख वेदों में मिलता है। यहाँ तक कि ऋषभदेव

की अहिंसा तो प्राग्वैदिक भी मानी जाती है और मुनिकान्त के अनुसार मोहनजोदड़ो में जो योगसूचक प्रतीक उत्खनन में मिले हैं वे ऋषभदेव की अहिंसक परम्परा से सीधे संबद्ध हैं।

ईसा के पूर्व की सदियाँ भारतीय आध्यात्म और दर्शन के बौद्धिक कोलाहल की साक्षी हैं। वेदों की हिंसा के प्रति, सीधा विरोध शनैः शनैः जागृत होता दीख पड़ता है और ब्राह्मण ग्रन्थों में अहिंसा की यह स्पष्ट घोषणा भी मिलती है। "मा हिंस्यात् सर्वभूतानि" (किसी भी जीव को मत मारो)

वैदिक मान्यताओं के विरोध में, अहिंसा को अपने समूचे स्वरूप में व्याख्यायित करने के लिए जिन दर्शनों का विकास हुआ उसमें जैन दर्शन प्रमुख था। जैन दर्शन हिन्दू धर्म के अद्वैतवादी तत्व के काफी निकट था तथा प्राग्वैदिक अहिंसा की परम्परा को आगे बढ़ाने और उसे सुगठित दर्शन के रूप में स्थापित करने में जैन तीर्थंकरों की महान भूमिका रही।

पार्श्वनाथ ने बुद्ध से 250 वर्ष पूर्व "चार्तुमास सस्वर संवाद" में अहिंसा का महान संदेश दिया था। उनके संदेश का सार था, हिंसा का त्याग, असत्य का त्याग, स्तेय का त्याग और परिग्रह का त्याग।

मज्जिम निकाय के महासिंहनाद सुत्त में तपस्विता, रूक्षता, तपस्विता, रूक्षता, जुगुप्सा और प्रविविक्तता पर जोर दिया गया था। जुगुप्सा का अर्थ था हिंसा का पूर्ण रूपेण तिरस्कार। पानी की बूँद तक पर भी दया करने को जुगुप्सा कहते थे।

अहिंसा और सत्य की इस पृष्ठभूमि में महावीर चौबीसवें तीर्थंकर के रूप में जन्मे। उनके जन्म के पूर्व तक सत्य और अहिंसा दर्शन के स्वरूप तक सीमित थे उनका व्यवहारीकरण होना था। वे शिव की जटा में विराजी गंगा की तरह थे जिसे किसी भगीरथ की ज़रूरत थी जो उसके प्रवाह को अपने तपोबल से धरा पर बहा देता। इस प्रसंग में महावीर उस धार्मिक आन्दोलन के प्रवर्तक थे जो अहिंसा और सत्य के स्वरूप को उनकी समग्रता और संपूर्णता में मौलिक रूप से पिरोता था। उनका आन्दोलन अपने पूर्ववर्ती 23 तीर्थंकरों के ज्ञान और परम्परा को एक ऐसी सर्जनात्मक दृष्टि देता था जो समूचे तात्कालिक समाज की संवेदना को बदलती भी थी और जागृत भी करती थी। वेदों को अग्राह्य करते हुए वे उस तप, त्याग और क्षमा का संदेश देते थे जो हमारे मूल दर्शन की थाती थे।

वैदिक हिंसा के विरोध में चार्वाक का भी दर्शन आया लेकिन उसके निरे भोगवाद को महावीर के तप दर्शन के सम्मुख पराजित होना पड़ा क्योंकि भारतीय आध्यात्म की आत्मा केवल सत्य, त्याग और तपश्चर्या के मार्ग को ही ग्राह्य करती थी।

महावीर के इस धार्मिक उन्मेष की यह एक महान विशेषता थी कि वह समता पर आधारित था। वर्गभेद और जाति भेद जैसे विभाजक तत्व उसमें नहीं थे। उसमें सहज साधना थी जो रूढ़ियों और रीतियों से मुक्त थी, आवेष्ठित कुछ था ही नहीं सभी निरावृत, सहज और सुगम था। उनका चिंतन उनके कर्म में साकार था और उनकी भाषा जिसमें उन्होंने उपदेश

दिए वह भी आभिजात्य नहीं थी। उनके उपदेश जनपदीय, तात्कालिक अर्द्धमागधी या अपभ्रंश में हैं, इसलिए उनके आन्दोलन की वाणी संप्रेषणीय बनी और जनमानस उससे तुरन्त प्रभावित हुआ।

अपनी पूर्व परम्परा के दार्शनिक तत्वों को संजोकर उन्होंने एक ऐसा सुगठित और बुद्धिगम्य व्यावहारिक दर्शन दिया जिसकी सहजता बहुत आकृष्ट करती है। उनके दर्शन के अनुसार सृष्टि अनादि है और वह जिन 6 तत्वों से बनी है, वे भी अनादि हैं, ये छः तत्व हैं जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें मृत द्रव्य केवल पुद्गल है। जीव और पुद्गल के मिलन से जीवन बना है। जीवन के अस्तित्व में आने के बाद धर्म ही जीवन की गति को संभव बनाता है। धर्म का अर्थ सार्थक कर्म है। अधर्म जीवन की गति को अवरूद्ध करता है।

स्थूल शरीर के भीतर सूक्ष्म कर्म शरीर है और कर्मों के संस्कारों पर आधारित गति ही जीवन की गति है। इन संस्कारों के कारण जीव, अजीव से बंधा है। यह बंधन जब पृथक हो जाता है तब "कैवल्य" या मोक्ष की प्राप्ति होती है। कर्म के क्षरण का प्रवाह जब थम जाएगा तब आत्मा पूर्णतः शुद्ध हो जाएगी, जब पूर्व जन्म के संस्कारों का पश्चाताप पूर्ण हो जाएगा तब मोक्ष की प्राप्ति होगी। संवर और निर्जरा के द्वारा जिसने अपने आपको समस्त आर्जवों से मुक्त कर लिया वही मोक्ष को प्राप्त होता है।

महावीर सृष्टि को अनादि मानते हैं इसलिए "उत्पाद" के रूप में उनकी मान्यता यह है कि पृथ्वी पर कुछ भी नया नहीं है। जो भी है वह पहिले से ही उत्पन्न है, और जो पहिले से ही उत्पन्न है उसका निरन्तर "व्यय" होता रहता है अर्थात् पदार्थ का रूप सदैव परिवर्तित होता रहता है और परिवर्तन की यह प्रक्रिया निरन्तर है। इस क्रियाशीलता को "ध्रौव्य" कहा गया।

महावीर ने अहिंसा की चरम परिणति अनेकान्तवाद में मानी।

अहिंसा मानसिक धरातल पर अनेकान्त है। सत्य को उन्होंने बहु आयामी माना और कहा कि दूसरे के दृष्टिकोण को संकीर्णता में नहीं सहिष्णुता में खोजो। स्याद्वाद के रूप में उन्होंने अनेकान्तवाद को भाषा दी। सत्य और अहिंसा को स्याद्वाद के माध्यम से जोड़ते हुए उन्होंने कहा कि सत्य उसी व्यक्ति को प्राप्त होता है जिसके मन में अपनी मान्यताओं के प्रति आग्रह नहीं है। सत्य द्वंद्वात्मक नहीं है। दुराग्रह भी वास्तव में एक प्रकार की हिंसा है।

महावीर का धर्म ऐसे कर्म का दैवीय स्वरूप है जो त्रिरत्नों से शोभित है। ये तीन रत्न हैं, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र।

कर्म का यह दैवीय स्वरूप अहिंसा, सत्य, आस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह में विराजता है।

तपस्वी के लिए इन व्रतों का कठोरतापूर्वक पालन अनिवार्य है लेकिन गृहस्थ के लिए ये व्रत उदार हैं, जैसे कोई गृहस्थ पूर्णतः यदि अपरिग्रही न हो तो उसका परिग्रह केवल इतना

रहे कि वह अपने व अपने परिवार का भली–भाँति पोषण कर सके। आवश्यकता से अधिक संचय का निषेध वास्तविक अपरिग्रह है।

महावीर अहंकार के प्रबल विरोधी हैं। अहंकार के आठ रूपों को उन्होंने त्याज्य माना है।

उनके दर्शन में सांसारिक मोह, लिप्सा और लोभ का कोई स्थान नहीं है और इन सब पर उन्होंने विजय प्राप्त की इसलिए वे 'जिन' कहलाए और उनके अनुयायी जैन। इन अर्थों में जैन शब्द जाति बोधक नहीं है वह मानवता बोधक है।

ऊपर जिस महावीर दर्शन और उसकी मान्यताओं का संक्षिप्त विवरण दिया गया है उनसे महावीर की सहजता और उनके मूल्यों की विमलता ही प्रगट होती है। वे न तो दुरूह हैं, न रूढ़िगत, न संकीर्ण। उनका दायरा समूचे विश्व को अपने आप में समाहित करता है, गांधी ने जिन मूल्यों को स्थापित करने की कोशिश की वे वास्तव में महावीर के मौलिक मूल्य थे। सत्य और अहिंसा की अविराम यात्रा महावीर से गांधी तक आते–आते और परिष्कृत हुई है, निखरी है, इस यात्रा में शामिल ऐसे व्यक्तित्व भी हुए, देश भी हुए जिनका इस यात्रा की परंपरा से कोई रिश्ता भी नहीं था।

महावीर का यह महान धार्मिक उन्मेष अभी जीवंत है अपने मूल्यों में और ये मूल्य अपने चरित्र में स्थायी हैं। ये इसलिये स्थायी हैं क्योंकि ये अपने आप में इतने पूर्ण और पावन हैं कि इनका कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं। ये मूल्य जय या पराजय से हमारी उपलब्धियों की समीक्षा नहीं करते क्योंकि इस समीक्षा की परिधि में मोह की भौतिक सांसारिकता आती है, इसके घेरे में दर्प, और दंभ के थोथे आवरण आते हैं, ऐसे आवरण जो जगमगाते हैं कृत्रिम रौशनी से लेकिन जिनमें सूर्य के तेज सी कोई नैसर्गिक आभा नहीं होती। महावीर तो निरावृत्ति के, सारी आवरणहीनता के प्रतीक हैं। इतने निर्मल, सहज और शुचिपूर्ण कि इन सारे गुणों की दीप्ति उनके बाह्य में भी वैसी ही आलोकित होती है जैसी अंतर में।

आभा कहीं किन्हीं प्रतिमानों में बँधी है, जो महावीर उसमें "बंधें" ? वे अपनी ही ज्योति से ज्योतिर्मय हैं उन्हें किसी प्रकाशपुंज के आलंबन की ज़रूरत नहीं। लेकिन आज प्रकाशपुंजों को थामें हम ज्योतिर्मय महावीर को खोज रहे हैं यह खोज हमें महावीर के असली शिविर की ओर नहीं गहरे तिमिर की तरफ ले जा रही है। बेहतर होगा इन प्रकाश पुंजों के आलंबनों को छोड़ना, ये जैसे ही छूट जाएँगे, हमें महावीर के शिविर को खोजने की ज़रूरत नहीं होगी, हम पाएँगे हम स्वयं ज्योतिर्मय हो गए, महावीर हो गए।

क्योंकि आज से ढाई हज़ार सालों से भी ज़्यादा पहिले जो बिरली सांस वैशाली में जन्मी थी वह समूह में नहीं थी बल्कि उसमें स्वयं में समूह था और उसके पीछे भी।

इसलिए महावीर इन विरल सांसों से उपजी ऐसी चिरन्तन धड़कन का नाम है जो समूची मानवता के प्राणों की धरोहर है, जिसकी आराधना के लिए भविष्य की सदियाँ मालाएँ और युग संकल्प के कलश लिए खड़े हैं।

9

ईसा – पर्वत से धरती के अनमोल बोल

परछाईयों और प्रतिबिम्बों से यह पूछना बड़ा बेमानी है कि उनके अस्तित्व को कैसे टटोला जाए क्योंकि उनका कोई यथार्थ ही नहीं होता, वे तो सिर्फ भाव अस्तित्व भर हैं जो दीख जाते हैं लेकिन न तो उन्हें छू सकते हैं और न ही उनसे कोई स्वर उगलवाए जा सकते हैं।

आज के संदर्भों में परछाईं और प्रतिबिम्ब दोनों ही बहुत महत्वपूर्ण और प्रासंगिक हो गए हैं, इसलिए कि वे अस्तित्वहीन होते हुए भी अपने वजूद का एहसास कराते हैं। परछाइयाँ चलती दीखती हैं, प्रतिबिंबों में ओंठ थरथराते हैं, भले इस चलने में कोई लक्ष्य न हो, थरथराने में कोई बोल न हों।

इनकी लक्ष्यहीनता और मौन दोनों ही बहुत महत्वपूर्ण हैं। इतिहास में ऐसे दौर आते हैं जब मूल्यहीनता प्रतिष्ठित हो जाती है, लक्ष्यहीनता में लोग मंज़िल तलाशते हैं और मौन से कविताएँ रची जाती हैं।

आज ईसा को याद करते मैं यही सोच रहा हूँ, राम और मोहम्मद को याद करते वक़्त भी यही सोचा था। ये महान अस्तित्व जन्मे थे गति देने, वाणी देने, लक्ष्य देने, पथ देने लेकिन हम इनसे सिर्फ ले पाए इनकी परछाइयाँ और प्रतिबिंब जिन्हें पूजकर हम इन्हें याद कर लेते हैं। इन्हें याद रखना हमारी विवशता से जन्मता है आस्था से नहीं, विवशता से इसलिए कि हमने इन विभूतियों में भी अपने स्वार्थ खोज लिए हैं और आस्था से इसलिए नहीं क्योंकि आज शायद ही कोई ऐसा हो जो स्वार्थमुक्त हो और आस्था के स्वार्थ से कोई सरोकार नहीं होते।

ईसा की याद भी कुछ ऐसी ही विवशताओं में जकड़ी रहती है। हम वह सब कुछ करते हैं जिसके खिलाफ ईसा खड़े हुए चले, बोले और लड़े लेकिन यह करते करते ईसा का सच भी हमें कुरेदने लगता है और यही अनुभूति उनकी याद दिला जाती है, उनकी याद आस्थाजन्य नहीं होती, विवशताजन्य होती है।

बड़ी असमंजस के बीच ईसा याद आते हैं। यह असमंजस इसलिए होती है क्योंकि हमारे मापदंड दोहरे होते हैं जबकि ईसा के मापदंड तो एक से थे। उनकी वाणी इतनी सरल, सहज और बोधगम्य थी कि उसके दो अर्थ ही नहीं हो सकते थे। ऐसा मुमकिन ही नहीं था कि उनकी वाणी को ही विस्तार दिया जा सकता और कर्म को अकेला छोड़ दिया जाता। उनकी वाणी सिर्फ कर्म के लिए थी। उसे सुनकर किसी और को सुनाने की ज़रूरत थी ही नहीं उसे तो सीधे–सीधे आचरण में उतारना था। वह इतनी सीधी थी कि किसी व्याख्या की उसे ज़रूरत ही नहीं थी, इसलिए उनकी वाणी बड़ी अवरोधक सिद्ध हुई और रास्ता यह निकाला गया कि उनकी परछाई' को, उनके प्रतिबिंब को पूजकर ही उन्हें याद कर लिया जाए।

वाणी का इतना सरल होना भी कभी–कभी उसकी बिडम्बना बन जाता है। ईसा के उपदेश "न्यू टेस्टामेंट" में हैं जिन्हें नया नियम भी कहते हैं। बाइबिल में ओल्ड टेस्टामेन्ट और न्यू टेस्टामेन्ट दोनों हैं लेकिन "न्यू टेस्टामेंट" में ईसा के मौलिक वचन मौजूद हैं और ईसाइयत की ज़्यादा तवज्जो "न्यू टेस्टामेंट" के प्रति है। न्यू टेस्टामेंट को पढ़ते वक़्त ऐसा क़तई नहीं लगता कि कोई दुरूह दर्शन पढ़ा जा रहा हो। उनकी दृष्टि बड़ी व्यावहारिक और कर्ममय है। उसका सारा ज़ोर हमारे आचरण पर है। ईसा के वचन हमारे आचरण पर पड़े दोहरे आवरण को अनावृत करते हैं और वे इतने तार्किक भी हैं कि हमारे पास उनके प्रतिवाद ही नहीं होते।

न्यू टेस्टामेन्ट (मैथ्यू) में वे कहते हैं,

"माँगो तो तुम्हें दिया जाएगा, ढूंढ़ो तो तुम पाओगे, खटखटाओ तो तुम्हारे लिए खोला जाएगा, क्योंकि जो माँगता है, उसे मिलता है जो ढूंढ़ता है वह पाता है और जो खटखटाता है, उसके लिए खोला जाता है। तुममें से ऐसा कौन सा मनुष्य है कि यदि उसका पुत्र उससे रोटी माँगे तो वह उसे पत्थर दे"।

ईसा के वचनों का दूसरा मौलिक तत्व यह है कि वे ईश्वर को हरेक में और सब जगह देखते हैं। ईसा का ईश्वर एक मनुष्य से कहता है कि मैं तुमसे दूर ही कहां था, "मैं भूखा था तब तुमने मुझे खाने को दिया, मैं प्यासा था तब तुमने मुझे पानी पिलाया, मैं परदेसी था तब तुमने मुझे अपने घर में ठहराया, मैं नंगा था तब तुमने मुझे कपड़े पहिनाए"।

उनका ईश्वर वृत्ति से नहीं भक्ति से पाया जा सकता है और वह भी सहज भक्ति से। बग़ैर किसी आडम्बर के, बिना किसी आलम्बन के ईश्वर को सच्ची सेवा के माध्यम से पाया जा सकता है। इस सेवा के मूल में करूणा, दया, मैत्री, स्नेह और अहिंसा चाहिए, अपरिग्रह चाहिए, आनंद चाहिए, आनन्द ईसा की स्थायी संपत्ति है। वे सदैव आनंदित और तन्मय रहने की शिक्षा देते हैं क्योंकि बिना आनन्द के जीवन की भूमि उर्वर नहीं हो सकती। आनन्द की वृष्टि होगी तो उस पर उपलब्धियों के फल मिलेंगे। नीरस जीवन, जीवन ही नहीं हो सकता। आनन्द ही उसका स्पन्दन है और यही आनन्द उसे ईश्वर के प्रति निमग्न होने की प्रेरणा देता है। भारतीय दर्शन में जिस अपरिग्रह पर महावीर ने ज़ोर दिया उसी असंचय की वृत्ति पर ईसा का भी ज़ोर रहा। उन्होंने कहा, "ईश्वर तथा द्रव्य दोनों को साथ लेना संभव नहीं"।

यह बड़ी सार्थक बात थी क्योंकि ईश्वर सबसे बड़ा पारलौकिक धन है, और धन चाहे पारलौकिक हो या भौतिक, उसका आकर्षण बड़ा प्रबल होता है। यह आकर्षण हमारी संपूर्ण ऊर्जा को, शक्ति को केवल अपने प्रति समर्पित देखना चाहता है इसलिए यदि एकनिष्ठ समर्पण ही हो तो वह या तो इस पारलौकिक संपदा के प्रति हो या इहलौकिक संपत्ति के प्रति, दोनों एक साथ नहीं हो सकते। ईसा ने दोनों में से किसी एक को चुनने की स्वतंत्रता दे रखी है और उनके परिणाम भी बता रखे हैं। ईसा का यह पारलौकिक द्रव्य प्राप्य भी बहुत सहज है। ईसा के ईश्वर के राज्य को केवल तभी ग्रहण किया जा सकता है जब हमारा मन बालक की तरह हो, निष्कलुष, निस्वार्थ और भोला। कुतर्क या कलुष को धारण कर किसी अपेक्षा को

लिए ईश्वर को पाना असंभव है। मन यदि प्रवृत्तिमय होगा तो वह भ्रमित करेगा। जो बातें सीधी हैं, सरल हैं उन्हें उसी सहजता की परिधि में देखो, कोंण से देखने पर भ्रांति होती है और ज़्यादा दूर तक यदि देखने की कोशिश करो तो आँखों के सामने मरीचिका जन्म जाती है जो होती तो बहुत लुभावनी है लेकिन जिसका कोई अस्तित्व ही नहीं होता। अपने आचरण और व्यवहार को वैसा ही रखो जैसे आचरण और व्यवहार की आशा तुम दूसरों से अपने बारे में करते हो। इस सारे दर्शन की आत्मा को ईसा ने बड़े सरल शब्दों में समेटा, उन्होंने कहा, "दोष मत लगाओ कि तुम पर भी दोष न लगाया जाए, क्योंकि जिस प्रकार तुम दोष लगाते हो उसी प्रकार तुम पर भी दोष लगाया जाएगा और जिस नाप से तुम नापते हो उसी से तुम्हारे लिए भी नापा जाएगा।"

ईसा ने अपने वचनों के माध्यम से अर्न्तदृष्टि दी, दृष्टि देने वाले तो बहुत होते हैं जो मार्ग दिखाते हैं लेकिन अर्न्तदृष्टि तो इतनी व्यापक होती है कि वह स्वयं मार्ग खोज लेती है उसे न किसी माध्यम की ज़रूरत होती है न साधन की। ईसा ने किसी साधना की ओर भी उन्मुख करने की कोशिश नहीं की। उनकी तपस्या का सार तो दूसरों की सेवा में निहित था। सेवा भाव के प्रति समर्पण ही उनका पहिला लक्ष्य है।

ईसा ने पर्वत पर खड़े होकर धरती के लोगों से धरती की बात कही थी। "सर्मन ऑन दि माउन्ट" के तहत जो ईसा की वाणी है उसकी सबसे बड़ी ख़ासियत यही है कि वह बोली पर्वत से गई लेकिन वह पर्वत की तरह थी नहीं उसमें कहीं अपने ऊँचे होने का दंभ नहीं था। अमूमन जो पर्वत से बोलते हैं उनकी बातें समझ में नहीं आतीं क्योंकि वे बहुत ऊँची होती हैं और सुनने वालों तक आते आते ये बातें इतनी क्षीण हो जाती हैं कि सुनने वाले ऊँचा सुनने लगते हैं।

इसलिए पर्वत से बोलने वालों को इतिहास बहुत जल्दी भुला देता है। ईसा इसके इकलौते अपवाद हैं क्योंकि वे पर्वत से बोले ज़रूर लेकिन ऐसा बोले कि वह सब धरती के लोगों को समझ में आ गया। इसकी वजह यह थी कि वे धरती की बात धरती के लिए बोले, पर्वत पर चढ़कर धरती के लोगों के लिए उन्होंने आसमानी बातें नहीं कहीं, उनके इसी सहज रूप को और उनकी वाणी की संप्रेषणीयता को समूची मानवता ने ग्रहण किया है और इसीलिए पर्वत से बोलते ईसा धरती की अमर धरोहर हैं।

"बाईबिल" सिर्फ धर्मग्रन्थ नहीं है वह इतिहास भी है जिसमें ईसा की पूर्व वंशावली है, वह भागवत की तरह लीलामय भी है, कुरआन और ग्रन्थ साहिब की तरह पवित्र वाणियों का संग्रह भी है जो समूची मानवता के रथ को सदैव प्रेरणा की ऊर्जा से गतिमान रखता है, बाइबिल सिर्फ ईसाईयों की ही किताब नहीं उसका तो हर हर्फ़ हर आदमी के लिए है, हर ऐसे आदमी के लिए जिसकी आस्था सच्चे मानवीय मूल्यों में है और जो मानवता के वर्तमान को और बेहतर बनाने की कोशिश में लगा हुआ है।

आज के यांत्रिक युग में जब क़ीमतें मूल्यों पर हावी हैं, यह जरूरी है कि भले कुछ देर को ही सही लेकिन बाइबिल के अंशों को पढ़ा जाए और पढ़कर उन्हें याद रखने की कोशिश भी की जाए, ये अंश इतने ताक़तवर हैं कि कर्म इनकी आत्मा को अपने में समेट लेने को खुद लालायित हो उठेगा, हमें आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी कि हम जो कुछ बाइबिल में पढ़े उसे आचरण में उतारने की कोशिश भी करें। हमारी पहिली मुश्किल तो यह होती है कि हमें बाइबिल ही नहीं मिलती और यदि मिल भी जाती है तो हम उसे पढ़ते ही नहीं।

आज यह अवस्था अकेली बाइबिल की ही नहीं है, यही हालत रामायण, कुरआन और ग्रन्थ साहिब की भी है। यदि इन महान धर्मग्रन्थों को बेनाम कर दिया जाए और इन्हें एक ही भाषा में अनूदित कर किसी भी हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख या ईसाई के सामने पढ़ने के लिए रख दिया जाए तो वह अंतर ही नहीं कर पाएगा कि कौन सी पंक्ति आयत की है, कौन सी चौपाई की और कौन सी वाणी की इसलिए कि इनके नाम भले अलग हों लेकिन आत्मा एक ही है, स्वर एक ही हैं और उनकी लयों में भी कहीं कोई अन्तर नहीं है। भिन्नता, अलगाव, द्वंद्व और टकराव तो बाद में इन सबके नाम पर पैदा कर दिए गए, उनकी मूल देन तो एकता, करूणा, दया, मैत्री, समभाव और आस्था की थी। पैदा होने वाली चीज़ जो अपने आप जन्मती है मौलिक तो वही होती है और अपने हितों के कारण जो चीज़ पैदा कर दी जाती है उसका इस मौलिकता से दूर दूर तक कोई लेना देना नहीं होता, वास्ता नहीं होता बल्कि पैदा कर देने वाली चीज़ बिलकुल उल्टी होती है।

इस क्रिसमस पर यदि ईसा याद आए हैं तो अपेक्षा करें कि बाइबिल पढ़ी जाएगी, उसके अंशों को याद को याद रखा जाएगा। चर्च से लौटने के बाद उसे भुलाया नहीं जाएगा। कोशिश की जाएगी कि मंदिर, मस्जिद और गुरुद्वारे में जाने वाले लोग भी उसे पढ़ें।

सूलियों को बनाने के सिलसिले जारी हैं, बहुत सी सूलियाँ गलों के इंतज़ार में गली गली खड़ी भी हैं। मग़र मरियम के बेटे की बाइबिल को पढ़ने के बाद भी यदि इन सूलियों के सिलसिले नहीं थमे तो बग़ैर सूली पर चढ़े मानवता के इस दारूण मृत्युदण्ड को सहन कर लेना शायद हमें मनुष्य कहलाने की परिधि में नहीं रख पाएगा।

इस क्रिसमस पर इस सच को याद रखते हुए मैं बाइबिल के सफ़े पढ़ते–पढ़ते पलट रहा हूँ और अपने आसपास एक नहीं अनेकों ईसाओं को देखते उन्हें प्रणाम कर रहा हूँ।

10

ईसा – एक सिन्धु की सूली

यह सत्य अपने आपमें आश्चर्यजनक है कि जितने सहज धर्मों के जनक हैं, उतने ही क्लिष्ट धर्म, उनसे जुड़े पंथ और परम्पराएँ हैं। जितने सरल और बोधगम्य वे महापुरूष हैं उतने ही जटिल और गूढ़ उन्हें बना दिया गया है। बुद्ध, महावीर, मोहम्मद और ईसा तो झरने थे जो अपने उद्दाम प्रवाह के साथ समूची मानवता को सींचने के लिए फूटे थे, लेकिन इन प्रपातों की जलधारा को हमने बड़े संकीर्ण सरोवरों की सीमाओं में बाँध दिया।

आज इन सिन्धुओं का नाम लो तो उनके नाम पर असंख्य छोटे छोटे सरोवर और पोखर दीख पड़ते हैं, जिनके जल में गति नहीं, प्रवाह नहीं केवल प्रदूषण है, यह प्रदूषण अलगाव का है, सांप्रदायिकता का है, विभाजन का है और हमारे उस संकीर्ण सोच का है जिसने सागर को सरोवर में बदल दिया, निस्सीम को सीमित कर दिया और अथाह की सतहें तय कर दीं।

इस क्रिसमस पर भी जब यीशू की याद आई तो सागर भी याद आया और असंख्य सरोवर भी। यीशू को सूली पर जब लटकाया गया तब मौत मृत्यु की हुई थी क्योंकि ईसा फिर इतने जीवंत हो उठे कि उनके प्राणों में अमृत समा गया और वे अमर हो गए, ज्यों ज्यों क्रिसमस बीतते जाते हैं ईसा और मुखर होते जाते हैं, हमारी स्मृतियों में, मग़र विडम्बना यह है कि ईसा की याद के साथ पहिले करूणा, दया, प्रेम और मैत्री की भी याद आती थी, इन्हें अपने व्यवहार में संजो लेने के संकल्प जागते थे लेकिन अब सिर्फ एक औपचारिकता को निबाहने भर की स्मृति बनी रहती है। इस विडम्बना से जितनी जल्दी हम मुक्त हो सकें इसके लिए सार्थक कोशिशें चाहिए, मन की दृढ़ता चाहिए, संकल्प शक्ति चाहिए। ऐसी विडम्बनाएँ अकेले ईसा के साथ जुड़ी हों ऐसा नहीं है, वे कृष्ण, राम, बुद्ध, महावीर और मोहम्मद से लेकर नानक तक जुड़ी हैं इसलिए हरेक महापुरूष के स्मृति दिवस के अवसर पर हरेक आदमी को चाहे वह किसी भी धर्म का हो ऐसे प्रयास ज़रूर करने चाहिए। यह प्रयास करना आज के संदर्भों की पहली माँग है।

ऐसी विडम्बना से मुक्ति के प्रयास तब किये जा सकते हैं जब इन महापुरूषों के दर्शन की, मूल दर्शन की अवधारणाओं को समझा जाए। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की सहजता को जाना जाए। ईसा के स्मृति दिवस पर एक ऐसी ही कोशिश की पहल करें, मुमकिन है कुछ पोखरों की दीवारें टूट पड़ें।

यीशू, जीसस क्राइस्ट या ईसा मसीह, एक ही महान व्यक्तित्व के नाम हैं। यहूदी धर्म, इस्लाम और ईसाइयत दरअसल एक ही वृक्ष की शाखायें हैं। विश्व के तीन पुराने धर्मों (हिन्दू, जरथुस्व और यहूदी) में पहिले दो आर्य हैं व यहूदी धर्म सामी। यहूदियों की तरह ईसा और मोहम्मद भी सामी जाति के सदस्य थे। सामी जाति घोर मूर्तिपूजक थी और यह मूर्तिपूजा

वास्तव में आस्था की पूजा के स्थान पर आडम्बर पूजा थी इसलिए धीरे धीरे एक विद्रोही चिंतन उभरा और हज़रत इब्राहिम ने जो यहूदियों के आदि पैग़म्बर थे सबसे पहिले मूर्तिपूजा छोड़ने का उपदेश दिया। इन्हीं हज़रत इब्राहीम के ख़ानदान में ईसा और मोहम्मद सा. हुए हज़रत दाऊद (डेविड) हुए।

ईसा और मूसा (मोज़ेस) हज़रत इसहाक़ के कुल में हुए, हज़रत मोहम्मद, हज़रत इब्राहीम के छोटे बेटे इस्माइल के खानदान में जन्में, ईसा पवित्र माँ मरियम की कुक्षि से जन्मे थे जो क्वांरी थीं। ईसा के रूप में पवित्र आत्मा उनमें गर्भस्थ हुई और जब ईसा जन्में तो उनके साथ प्रकाश का ऐसा पुंज जन्मा जिसने मानवीय कल्याण के पथ प्रशस्थ किये।

ईसा ने जो वचन कहे वे "न्यू टेस्टामेन्ट" या "नया नियम" के नाम से जाने जाते हैं। वास्तव में बाइबिल दो रूपों में हैं, ओल्ड टेस्टामेन्ट और न्यू टेस्टामेन्ट। ओल्ड टेस्टामेन्ट यहूदी धर्म का आधार ग्रन्थ है जबकि न्यू टेस्टामेन्ट पूर्णतः ईसाइयत का। न्यू टेस्टामेन्ट, ओल्ड टेस्टामेन्ट की परिष्कृत परिणति है।

ईसा, ममता, दया, प्रेम, करूणा और मैत्री के आगार थे तथा उनके वचनों में मानवता के यही मूल्य गूंजते हैं। बौद्ध धर्म और ईसायत में भी बहुत अधिक साम्य है क्योंकि बुद्ध की तरह ईसा भी पूर्णतः भक्तिमय थे, प्रवृत्तिमार्गी नहीं।

जीवदया, सर्व मैत्री, करुणा और अहिंसा का व्यवहार, पाप से घृणा, पापीसे स्नेह, सन्यास तथा यतिवृत्ति जैसे तत्व दोनों महापुरुषों के दर्शन में हैं जिन पर ज़्यादा ज़ोर दिया गया है। बुद्ध की तरह ईसा भी हिंसाकारक यज्ञों के खिलाफ थे और संग्रह वृत्ति के प्रति भी उनकी वही मान्यता थी जो बुद्ध की थी।

ईसा ने कहा, "मुझे हिंसा कारक यज्ञ नहीं चाहिए, मैं ईश्वर की कृपा चाहता हूँ" (मैथ्यू – 91/3) और यह भी, "ईश्वर तथा द्रव्य, दोनों को साथ लेना संभव नहीं" (मैथ्यू 6/24)।

अपने धर्म प्रचारकों को उपदेश देते हुए उन्होंने यह निर्दिष्ट किया कि तुम अपने पास सोना चांदी तथा बहुत से वस्त्र आभरण भी न रखना।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य हैकि जिस भू–भाग से ईसाइयत का जन्म हुआ वहाँ बौद्ध साधुओं का आगमन हुआ करता था। जिन परिस्थितियों में बुद्ध का चिन्तन जन्मा लगभग उसी तरह की परिस्थितियां ईसा के समक्ष भी थीं और इन दैवीय आत्माओं को जो ईश्वरीय बोध हुआ वह बोध भी युग की आवश्यकताओं के अनुरूप था। पाखंड आडम्बर और दिशाहीनता के कारण जो अंधेरा छाया था वह तभी दूर हो सकता था जब तार्किक ढंग से ईश्वरीय बोध को संप्रेषित किया जाता। इसलिए जब न्यू टेस्टामेन्ट पढ़ो तो ईसा का एक–एक वचन बड़ा भावप्रवण और मार्मिक मालूम होता हैं, आस्था स्वयं जाग जाती है और सारे तर्क उनके सहज कर्म आख्यान के सामने मूक हो जाते हैं।

ईसा का धन्यवाद उन लोगों को है जो मन के दीन हैं क्योंकि स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है। वे उन्हें धन्य मानते हैं जो शोक करते हैं क्योंकि शांति भी उन्हें ही पाना है, वे धन्य उन्हें मानते हैं जो विनम्र हैं जो शुद्ध हैं और जो सच्ची धार्मिकता के भूखे और प्यासे हैं क्योंकि इसके बदले में उन्हें भी दया प्राप्त होगी, वे ही सच्चे परमेश्वर को देख पाएँगे और वे ही तृप्त भी होंगे।

ईसा कहते हैं, "जो कुछ तुम चाहते हो कि मनुष्य तुम्हारे साथ करें तुम भी उनके साथ वैसा ही करो क्योंकि व्यवस्था और भविष्य वक्ताओं की यही शिक्षा है।"

ईसा की पूरी कोशिश कर्म की ओर मानवता को उन्मुख करने की है, उनका उपदेश है, "माँगो तो तुम्हें दिया जाएगा, ढूँढो तो तुम पाओगे, खटखटाओ तो तुम्हारे लिए खोला जाएगा। तुममें से ऐसा कौन सा मनुष्य है कि यदि उसका पुत्र उससे रोटी माँगे तो वह उसे पत्थर दे?"

यीशू की यह दृढ़ मान्यता है कि हम आनंदित और मगन रहें, आनंद का झरना सदैव बहता रहे हमारे मन में। वे बुद्ध की तरह करुणा को बहुत प्रधानता देते हैं और ईसा के पवित्र मुखमंडल पर वही भाव झलकता है जो ध्यानस्थ गंभीर बुद्ध के मुख पर।

इस परिप्रेक्ष्य में यह स्पष्ट होगा कि ईसा भी ईश्वर की छवि प्रत्येक मनुष्य के अंदर ही देखते हैं, किसी भूखे और प्यासे व्यक्ति को यदि किसी ने तृप्त कर दिया तो उससे बड़ा कोई दूसरा पुण्यात्मा उनकी दृष्टि में नहीं है।

उनका यह विमल दर्शन बड़ा मौलिक था लेकिन हर धर्म के विमल मूल्य कालांतर में धीरे–धीरे लुप्त हो जाते हैं और उनका स्थान पंथ, मठ और परंपराएँ ले लेती हैं। ईसाइयत के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ, उसके यूरोप में पहुँचने पर उसके मौलिक मूल्यों पर काफी प्रभाव पड़ा। ईसाइयत का एशियाई स्वरूप ईसा की मूल संवेदनाओं के ज़्यादा क़रीब है जबकि उसके यूरोपीय स्वरूप में कहीं कहीं वही विकृतियाँ दीख पड़ती हैं जो हमारे यहाँ के विभिन्न धर्मों में।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में ईसाइयत के प्रभाव का यदि आकलन किया जाए तो यह बात मोटे तौर पर सामने आएगी कि हमारी आज की सामासिक संस्कृति पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। अक़बर के समय में ईसाईयों को, जो बाहर से आए थे यथेष्ट आदर दिया गया और जहाँगीर के समय में उन्होंने एक गिरजाघर बनाया, एक शिक्षण संस्थान खोला और उसके दरबार में उन्हें विशिष्ट सम्मान दिया गया। भारतीय चित्रकला में तब तैल चित्रों का कोई स्थान नहीं था लेकिन एक यूरोपीय चित्रकार ने जहाँगीर की पहिली तैल शबीह बनाकर उसे भेंट की। बाद के काल में ईसाइयत भारत के अंग्रेज़ शासकों का धर्म बन गई और मिशनरियों के माध्यम से, शिक्षण के माध्यम से धर्मांतरण के प्रयास हुए। इस्लाम और ईसाइयत के धर्मांतरण संबंधी प्रयासों में एक मौलिक अंतर यह रहा कि ईसाई दृष्टि कम क्रूर और अधिक रचनात्मक रही। उनकी मिशनरियों ने पूरे समर्पण भाव से शिक्षण और सेवा के माध्यम से धर्मांतरण के व्यापक प्रयास किये जिनका फल यह हुआ कि निम्न वर्गीय हिंदुओं का एक बड़ा वृत्त उनके प्रभाव में

आया। इस धर्मांतरण की प्रक्रिया के कुछ दुःखद पहलू भी हैं, जिनका ईसाइयत के मूल तत्वों से कोई सरोकार नहीं, लेकिन हमारे इतिहास के दामन में ऐसे पहलुओं की स्पष्ट छाप दीख पड़ती है। ईसा और मोहम्मद का पहिला उसूल था कि उनके उपदेशों का प्रसार किया जाए, समूची मानवता के बीच, पूरे सौहार्द्र, मैत्री तथा भाई चारे के साथ, उनका यह मंतव्य क़तई नहीं था कि अन्य धर्मों, उनके महापुरुषों और उनके दर्शन की आलोचना की जाए और उनके ग़लत प्रस्तुतीकरण के माध्यम से उन धर्मों के मतावलंबियों के मानस को बदलकर उन्हें अपने धर्म में दीक्षित करने के लिए प्रेरित किया जाए। ऐसा नितांत असंभव था क्योंकि राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, मोहम्मद, ईसा और नानक के दर्शन के मूल तत्व प्रायः एक से हैं, विरोध उनके चिंतन और दर्शन में नहीं है यह विरोध तो उनके नाम पर बाद में सायास उपजा दिया गया, धार्मिक मठाधीशों द्वारा, विकृत परंपराओं द्वारा, कुरीतियों द्वारा, आज की सांप्रदायिकता की जड़ में यही तत्व हैं जिनका इन महापुरुषों को कोई लेना देना नहीं था।

भारतीय संदर्भों में ईसाइयत का महान योगदान इतिहास लेखन, और साहित्य लेखन में विशेष रूप से रहा।

भारत में धर्म प्रचार के लिए जो यूरोप से लोग आए वे अध्यवसायी तथा विद्याव्यसनी थे। उनकी रुचियाँ बड़ी परिष्कृत और कलात्मक थीं। वे समर्पित भाव से कार्य करने वाले लोग थे। उन्होंने यहाँ आकर इस विशाल देश की भाषाएँ सीखीं, उनका साहित्य पढ़ा और स्वयं भी अपने साहित्य की रचना की।

बाइबिल का तमिल में अनुवाद किया गया तथा मिशनरी कवियों ने कई प्रार्थना गीत लिखे। टॉमस स्टीफेंस जो सन 1879 में गोआ गया था, ने मराठी और कोंकणी पर पूर्ण अधिकार कर लिया तथा कोंकणी में उसने " ईसा पुराण" लिखा जो उस समय तात्कालिक रूप से बहुत समादृत हुआ।

तमिल साहित्य के क्षेत्र में बेरची ने बहुत नाम कमाया। वह सन 1678 ई. में मदुरा मिशन में आया था और जब 1742 में उसकी मृत्यु हुई तब वह तमिल का सर्वश्रेष्ठ पंडित था।

सिरामपुर बंगाल के मिशन में हिन्दी, बंगला और उर्दू के लिए बहुत काम किया गया। छापेखाने खोले गए, अख़बार निकाले गए और गद्य में ढेर सारा कार्य किया गया।

हिन्दी के लिए आधुनिक युग में फ़ादर कामिल बुल्के का नाम एक ज्वाजल्यमान नक्षत्र की तरह जगमगा रहा है।

इस तरह कला, संस्कृति, साहित्य और समाज सुधार के प्रायः सभी क्षेत्रों में ईसाईयत का योगदान रहा, ये रचनात्मक प्रवृत्तियाँ ही ईसा के संदेशों का सच्चा क्रियान्वयन हैं।

आज दैहिक रूप में ईसा नहीं हैं लेकिन "बाइबिल" है जो ईसा की ही नहीं संपूर्ण मानवता के हृदय की धड़कन है।

ईसा की करूणा ने तो उन्हें सूली पर चढ़ाने वालों को भी यह कहते हुए माफ कर दिया था कि "प्रभु तुम उन्हें माफ कर दो क्योंकि वे यह नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं, लेकिन यदि ईसा के निर्मल दर्शन को, उनके मूल्यों को हम विस्मृत कर, अपने भविष्य के लिए उनके नाम पर सिर्फ संकीर्णता ही गढ़ते रहे तो न तो हमें यह वर्तमान माफ़ करेगा और नही आगामी पीढियाँ।

11

'मेरी मेराज कि मैं उनके क़दम तक पहुँचा'

हिन्दुत्व, इस्लाम, ईसाइयत और सिक्खी, रामायण, कुरआन, बाइबिल और गुरूग्रन्थ साहिब, राम, पैग़म्बर हज़रत मोहम्मद, ईसा और नानक ऐसी विरासतों के नाम हैं जो उजाले की जगमगाती मंजूषा में इतिहास ने हमें सौंपी और हमने इस मंजूषा की उजास भरी धरोहर को अंधे उन्माद के अंधेरे प्रवाह के बीच विसर्जित कर दिया।

इस निर्मम विसर्जन के हम साक्षी और भागीदार हैं।

यह वास्तव में खड़े ताज्जुब की बात है कि ज्यों–ज्यों हम ज़्यादा अधुनातन और दृष्टि संपन्न होते गए त्यों–त्यों हमारी मानसिक संकीर्णता बढ़ती गई। विचार धर्म से जुड़े, फिर संप्रदायों से, फिर पाखंडी व्यक्तियों के आडम्बर में लिपटी श्रद्धा से और अंततः अंधे धार्मिक उन्माद से जिसकी परिणति आज की सांप्रदायिकता है।

विचारों की इसी संकीर्णता ने राम और कृष्ण को हिन्दुत्व से जोड़ दिया, पैग़म्बर को मुसलमानियत से, गुरुनानक को सिक्खी से, ईसा को ईसाइयत से, बुद्ध और महावीर को बुद्धवाद और जैनवाद से जबकि कृष्ण से क्राइस्ट तक किसी ने भी किसी जाति विशेष या धर्म विशेष के लिए जन्म नहीं लिया था। वे समूची मानवता के उन्नयन के लिए जन्मे, जिए और समर्पित हो गए लेकिन हमने उन्हें पहिले धर्म में बांधा, फिर संप्रदायों में, रूढ़ियों और आडम्बरों में और अंततः सांप्रदायिक उन्माद के प्रतीकों में। हमने उनके पावन मूल्यों की समानान्तरता को संघर्ष में बदल डाला। सांप्रदायिक संघर्ष का यह सवाल आज फिर उभर आया है।

बेहतर हो, आज के दौर में पैग़म्बर की महानता को याद करते हुए इस सवाल का हल भी ढूंढ़ने की कोशिश की जाए।

पैग़म्बर साहब ने इस्लाम का प्रर्वतन किया। इस्लाम है क्या ? वास्तव में इस्लाम का अर्थ है शांति में प्रवेश करना। इस शब्द के अन्य अर्थ हैं, सुलह, समझौता, कुशलता, विनम्रता, आज्ञापालन और ईश्वर को समर्पण। ये सारे शब्द हर धर्म की आत्मा के मूल स्वर हैं। इसलिए इस्लाम केवल मुसलमानों की धरोहर नहीं, सौरभ की तरह हरेक की थाती है वह, हर मनुष्य का अधिकार है उस पर, हम सब उसी एक अलौकिक शक्ति की उपज हैं और उसी की तरफ अन्त में हमें चले जाना है, कुरआन का यह एक प्रमुख स्वर है।

'इन्ना लिल्लाहि व इन्ना इलैहि राजेऊन'।

इस्लाम का ईश्वर निराकार और दया तथा सहिष्णुता का आगार है, ईश्वर ही इस सृष्टि का जनक और नियामक है, वही एक मात्र प्रभु, पालक और शासक है। मनुष्य केवल इस ईश्वर का सेवक मात्र भर है और उसका एक मात्र कर्त्तव्य इस ईश्वर की आज्ञापालन का है। मनुष्य अपने सारे अच्छे और बुरे कर्मों के लिए ईश्वर के समक्ष उत्तरदायी है। इस्लाम एक

धर्म नहीं विराट आन्दोलन था जिसकी ऐतिहासिकता प्रमाणिक है और यह आन्दोलन नैतिक और ऊँचे मानवीय मूल्यों की नींव पर खड़ा था। यह आन्दोलन बड़ा राजनैतिक और सामाजिक रूप से व्यवस्थित था क्योंकि पैग़म्बर सिर्फ रसूल ही नहीं थे, वे ऐतिहासिक पुरुष थे, गृहस्थ थे, योद्धा थे और आध्यात्मिक राजनयिक भी, उनका आन्दोलन इतना संप्रेषणीय और व्यावहारिक था कि देखते–देखते 40 लोगों की जमात मोहम्मद साहब के ज़माने में ही एक विशाल समुदाय में परिणत हो गई।

सांसारिक जीवन जीते हुए उन्होंने आध्यात्मिक उन्नयन के सहज मार्ग को मानवता के लिए खोजा था। इस मार्ग के सोपान थे विश्वास, मंज़िल, तक़वा (संयम) और परिष्कृत आचरण, नमाज़ की अनिवार्यता इस मार्ग को प्रशस्थ करने वाली एक ऐसी प्रार्थना थी जो ईश्वरीय बोध को जीवन्त रखती थी। ज़कात की व्यवस्था समानता क़ायम रखने के लिए किया जाने वाला एक पवित्र आचरण था। संयम की शिक्षा देने के लिए रोज़े का विधान था तथा हज की अनिवार्यता इसलिए थी कि वह महज़ एक तीर्थ यात्रा नहीं थी अपितु ऐसी इबादत थी जिसके द्वारा ईश्वर की स्मृति को अक्षुण्य रखा जा सकता था।

'वसुधैव कुटुम्बकम' की तरह इस्लाम की मूल भावना यह रही कि समूची मानवता को एक गोत्रीय माना जाए, इस्लाम में स्त्री को भी पुरूष के समान माना गया हालाँकि उसके कार्य क्षेत्र का वर्गीकरण किया गया। इस तरह इस्लाम के यदि मौलिक मूल स्वरूप को देखा जाए तो उसमें कहीं कोई ऐसी स्थापना नहीं मिलेगी जो मानवता, सौहार्द्र, भाई चारे, सहिष्णुता और संयम की मुखालिफत करती हो। लेकिन आज के परिप्रेक्ष्य में यह विचार करना बेहद ज़रूरी है कि इस मौलिकता का लोप होकर उसका स्थान संकीर्ण सांप्रदायिक हिन्दू–मुस्लिम उन्माद ने कैसे ले लिया ?

हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच सांप्रदायिक आग के उभरने के क्या कारण हैं? हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच जो सांप्रदायिक आग सुलगती है उसके प्रमुख तीन कारण हैं।

पहिला तो यह कि इस्लाम मूर्तिपूजा का घोर विरोध करता है, दूसरा उसमें जिहाद या धर्मयुद्ध की ऐतिहासिक वास्तविकता है और तीसरा यह कि धर्म से जुड़ी रुढ़िगत जो परंपराएँ हैं और उनसे जुड़े जो प्रतीक हैं, उत्सव हैं, वे उन्माद को फैलाने के अवसरों के रूप में चुन लिए जाते हैं।

ये तीनों कारण ऐसे हैं जो संवेदना के स्तर पर जब कभी आहत करते हैं तो यह आग फैल जाती है। बदक़िस्मती यह है कि कोई यह समझाने वाला नहीं कि जो इस्लाम की मूल आत्मा है उसका इन तीनों कारणों से कोई न तो सीधा सरोकार है और न ही वे तीनों कारण हिन्दुत्व की आत्मा के स्वरों के विरोधी हैं, बल्कि समझाने के नाम पर जो शांति समीतियाँ बनती हैं वे खुद आग्रही हो जाती हैं और उनके सदस्य न तो मूल हिन्दुत्व को समझते हैं न इस्लाम को।

पैग़म्बर साहब ने एकेश्वरवादी अवधारणा को अरब के उन क़बीलों के बीच स्थापित किया था जिनका काम मूर्तिपूजा के नाम पर आडम्बरों के माध्यम से जन साधारण का शोषण करना होता था। मूर्तिपूजा का विरोध उन्होंने इसलिए नहीं किया था कि उससे किसी की आस्था पर या उन मानवीय मूल्यों पर आघात होता था जो सारी मनुष्य जाति की विमल धरोहर हैं बल्कि इसलिए कि उसकी आड़ में वैमनस्य, दुराचार और शोषण पनपता था। यही स्थिति हिन्दुत्व की भी है। हिन्दुत्व एक प्राचीनतम दर्शन है जिसके गर्भ से कई धर्म जन्मे और इनमें से अनेक पंथ ऐसे विकसित हुए जो निराकार ब्रम्ह के उपासक थे। एकेश्वरवादी अवधारणा हिन्दुत्व के लिए इस्लाम से कहीं ज़्यादा पुरानी है। लेकिन जब तातारियों ने इस्लाम अपनाया तो उन्होंने उसकी मौलिक विमलता को तो नहीं अपनाया बल्कि उसके साथ अपनी हिंसक वृत्तियों को मिला दिया और जब मुसलमान इस देश की धरती पर आए तो वे आक्रामक के रूप में आए और उन्होंने बजाय उसके मूल्यों को रोपने के, उन्हें आरोपित करना चाहा। बड़ी स्वाभाविक बात है कि रोपना रचनात्मक होता है और आरोपित करना ध्वंसकारी। इस आरोपण की प्रक्रिया में इतिहास की गवाही यह है कि इस्लाम के मूल्यों को न तो सही परिप्रेक्ष्य में समझा गया और न ही समझाया गया, जिन्होंने समझाया उनके प्रयत्न सफल नहीं हो पाए, चाहे वे अक़बर हो या दाराशिकोह इसलिये दारा के क़त्ल को दिनकर ने बड़े सही रूप में लिखा है कि उसकी मौत अमृत की हार और हलाहल की जीत थी।

यदि आम हिन्दू यह समझ ले कि इस्लाम की एकेश्वरवादी धारणा मूर्तिपूजा की नहीं अपितु मूर्तिपूजा से जुड़े आडम्बर और पाखंड का विरोध करती है और यदि आम मुसलमान यह समझ ले कि हिन्दुओं की मूर्तिपूजा वास्तव में उन मूल्यों की उपासना का माध्यम है जिन्हें पैग़म्बर ने भी और राम ने भी अपने अपने समय में समूची मानवता के बीच रोपने की कोशिश की थी तो पहिले कारण से उपजी सांप्रदायिकता अपने आप समाप्त हो सकती है।

जहाँ तक जिहाद या धर्मयुद्ध का सवाल है, उसे भी सही परिप्रेक्ष्य में कभी समझा नहीं गया। जिहाद वास्तव में सच्चे ईश्वरवादी की उस परीक्षा का नाम है जिसमें धर्म के सच्चे कर्णधार की परीक्षा हो जाती है। धर्म की रक्षा के लिए मैदान में उतरना उस कर्णधार की अंतिम विवशता है। ठीक महाभारत के पाण्डवों की तरह जिन्हें कृष्ण के नेतृत्व में धर्मयुद्ध करना पड़ा था। जिहाद एक इस्लामी नाम है और महाभारत हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए लड़े जाने वाले युद्ध किसी व्यक्तिगत मनोमालिन्य या द्वेष से प्रेरित नहीं होते वे महान धार्मिक मूल्यों की रक्षा के लिए लड़े जाते हैं और धार्मिक मूल्य चाहे हिन्दुत्व के हों या इस्लाम के उनमें कहीं कोई विरोध नहीं है।

'अल्लाहो अकबर' या 'हर हर महादेव' धर्म के मूल्यों की रक्षा के लिए प्रेरित करने वाली पावन उक्तियाँ है न कि हिन्दुओं और मुसलमानों को आपस में लड़ने के लिए उकसाने वाले नारे।

आज चाहे बाबरी मस्जिद हो या किसी भी हिन्दू धर्मस्थान के कहीं निर्माण या तोड़ने का विवाद हो उसे ऐसी अधार्मिक और स्वार्थपूर्ण राजनीति से जोड़कर परखने और हल ढूंढने की कोशिश की जाती है कि वह कोशिश ही यह आग भड़का जाती है।

यदि मुसलमान जिहाद को महाभारत के युद्ध के मूल तत्वों की पृष्ठभूमि में देखने की कोशिश करें और हिन्दू पैग़म्बर साहब के नेतृत्व में लड़ी गई बदर से हुनैन और मक्का तक के युद्धों के मूल में समाए तत्वों के परिप्रेक्ष्य में इन युद्धों की असलियत को देखने की कोशिश करें तो आपस में इन लफ्ज़ों से उभरने वाली नफरत खुद ब खुद ख़त्म हो सकती है।

तीसरा कारण इन दोनों कारणों से जन्मा कारण है, चूँकि शिर्क और जिहाद के सही अर्थ नहीं समझे गए, इस्लाम और हिन्दुत्व की मूल भावनायें नहीं समझी गईं इसलिए जो इन पवित्र धार्मिक आन्दोलनों से कालांतर में रूढ़ियाँ पनपीं, परम्परायें जन्मीं, संप्रदाय जन्में उनके जन्मों ने इन आन्दोलनों की मूल भावनाओं को ही नष्ट कर दिया ये सब प्रमुख हो गए और धर्म के मूल तत्व गौंण। सम्प्रदायों और रूढ़ियों की कट्टरता ने खुले विचारों के झरोखों को बंद कर दिया और आम हिन्दू तथा मुसलमान के दिमाग़ में बजाय सहिष्णुता और सौहार्द्र के मन्दिर, मस्जिद के स्थानों, उत्सवों, गाय और सूअर के प्रतीकों ने स्थान ले लिया।

हिन्दुओं के आचरण की संकीर्णता और मुसलमानों के विचारों का संकरापन दरअस्ल उन सम्प्रदायों और उनसे जुड़े मठाधीशों के स्वार्थों का परिणाम हैं, जो धर्म की परिणति अलगाव और वैमनस्य में देखते हैं और देखते रहे हैं। इस मनोवृत्ति और स्वार्थपरकता का सर्वाधिक लाभ अंग्रेज़ों ने उठाया वे इस चिन्गारी को ऐसी अनवरत जलने वाली अग्नि बनाकर छोड़ गए जो दब भले जाए, लेकिन जब तब हमेशा भड़क जाया करती है। स्वतंत्रता के बाद की जो व्यवस्था बनी उसका स्वरूप बहुत आदर्श था और उद्देश्य बहुत महान थे, लेकिन इस व्यवस्था की नींव वोट पर रखी गई थी। इन वोटों का ऐसा राजनीतिकरण हुआ कि ये सत्ता की धुरी बने और सत्ता का आकर्षण इतना प्रबल हुआ कि उसकी प्राप्ति के लिये यह ज़रूरी माना जाने लगा कि ये वोट यदि अकर्मण्यों को फायदा दिलवा सकते हैं, तो यह भी ज़रूरी है कि इन वोटों की प्राप्ति के लिये धार्मिक असहिष्णुता को बढ़ावा दिया जाए।

'ये वोट बैंक ऐसे हैं, जिन्होंने हिन्दुत्व और इस्लाम के बुनियादी मूल्यों का दीवाला पीट दिया। इन बैंकों ने हर आम हिन्दू और मुसलमान की पावन विरासत की पूँजी छीन ली। वे कंगाल हो गए और कंगाली की कुंठा से उपजे उन्माद ने उन्हें लड़ने पर मजबूर कर दिया।

कुल मिलाकर यही चित्र हमारी साम्प्रदायिकता के चरित्र का बनता है। यदि और कुछ नहीं हो सकता तो इतना तो हो सकता है कि इस्लाम और हिन्दुत्व के मर्म को जानने वाले लोग सामने आएं और वे हर आम हिन्दू और मुसलमान को बजाय इन धार्मिक आन्दोलनों से जन्मे सम्प्रदायवाद की शिक्षाओं को देने के, सरल लहज़े में इन आन्दोलनों के मौलिक और मूल तत्वों को समझाने की कोशिश करें जो हिन्दुत्व और इस्लाम में एक से हैं और जिनमें कहीं कोई पारस्परिक विरोध नहीं है।

महान पैग़म्बर को याद करते यदि हम अपने दम्भ को छोड़कर उनके क़दमों तक भी इन भावनाओं के साथ पहुँच सके तो हम सबके भविष्य के लिए यह एक नई सुबह की सौगात होगी।

'दैर से नूर चला और हरम तक पहुँचा
सिलसिला मेरे गुनाहों का करम तक पहुँचा
उनकी मेराज कि वे अर्श–ए–बरी तक पहुँचे
मेरी मेराज कि मैं उनके क़दम तक पहुँचा।

12

पैग़म्बर हजरत मोहम्मद, "मर्म–मरूभूमि के"

जीवन जन्म से अपनी कहानी शुरू करता है। इसलिए इस सृष्टि के सारे जीवन जन्म के ऋणी होते हैं, कृतज्ञ होते हैं उसके प्रति। लेकिन कभी–कभी ऐसा भी होता है जब स्वयं जन्म किसी जीवन का ऋणी और उसके प्रति कृतज्ञ हो उठता है। क्योंकि ऐसे जीवन को पाकर समूची मानवता धन्य हो उठती है और जन्म के अस्तित्व की सार्थकता सिद्ध हो जाती है।

ये अपवाद अभी तक के इतिहास में बहुत गिने चुने हैं और इन्हीं अपवादों ने इतिहास के उजास भरे अध्याय रचे हैं, यह उजास महावीर की भी है, मोहन की भी, मीरा की भी है और मोहम्मद की भी।

ये उजाले जब जन्मते हैं तब इनकी भोर डूबने के लिए कभी नहीं होती। इनकी भोर समूची मानवता के जागरण की भोर होती है क्योंकि उसकी हर किरण में मानवीय कल्याण के सुनहरे संदेश छुपे होते हैं।

ऐसी ही एक सुबह का नाम मिलादुन्नबी या बारावफात है जिस दिन हज़रत मोहम्मद (सल्ल.) जन्में थे। हज़रत मोहम्मद 12 रबीउल अव्वल आम फ़ील, सोमवार ई. सन् 570 में कुरेश क़बीले के एक प्रतिष्ठित परिवार में माँ आमिना के गर्भ से जन्में थे, जो ज़ोरा क़बीले के प्रमुख अब्दे मनाफ़ की पुत्री थीं। उनके पिता अब्दुल्लाह का निधन 25 वर्ष की अल्पायु में असामयिक रूप से हो गया था और उनका लालन–पालन उनके दादा अब्दुल मुत्तलिब ने किया। वे बचपन से ही बड़े अर्न्तमुखी थे और निरन्तर चिंतन और मनन उनकी दैनिक चर्या का अनिवार्य अंग था। वे शिक्षा–दीक्षा विहीन थे। उनका कोई अध्ययन नहीं था। इसलिए उनके मानस में प्रश्नों के मौलिक द्वंद्व उठा करते थे। एक सांसारिक व्यक्ति होने के नाते तात्कालिक सामाजिक विद्रूप और विसंगतियों से उनका सीधा सरोकार था और इन्हें दूर करने के विकल्पों की तलाश में वे विकल और बेचैन रहते थे। उनके इस चिंतन और मंथन की परिणति "इलहाम" में हुई। उन्हें दैवीय संदेश प्राप्त होने लगे, जिन्हें वे तालपत्रों पर, लकड़ियों और चमड़े के टुकड़ों पर उतारते रहे, यह क्रम 23 वर्षों तक चला, यही दैवीय संदेश "कुरआन" है, जिन्हें पहिले खलीफा महान अबूबक्र ने संपादित कर उसे एक पोथी की शक्ल दी, इन संदेशों का दर्शन ही "इस्लाम" है और इनका सार यह है कि सृष्टि का नियंता एक है, जो निराकार है, वह दया, प्रेम, करुणा और भाईचारे का एकमात्र उत्स है, सारे मनुष्य उसके सेवक हैं जो उस एकमात्र नियामक सत्ता के समक्ष अपने कर्मों के प्रति उत्तरदायी हैं, जिस दिन न्याय होगा, उस दिन यह नियामक शक्ति हर मनुष्य को उसके कर्मों के आधार पर उसे पुरस्कृ त या दंडित करेगी।

इस्लाम दर्शन कुरआन के अलावा सुन्नत और हदीस में भी है। सुन्नत में मोहम्मद साहब के कृत्यों का उल्लेख है तथा हदीस वह क़िताब है, जिसमें उनके उपदेश हैं। इस दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह पूर्णतः व्यावहारिक दर्शन है, सांसारिक जीवन जीते हुए उस परम सत्ता की कृपा पा लेने का मार्ग इस दर्शन में निहित है। इसलिए यह हर युग में सामयिक है। क्योंकि यह हर युग में उठे हर सवाल का जवाब देता है।

हमारे आज के संदर्भ बड़े उलझे और अंधेरे हैं, उलझाव इतना है कि पांव बढ़ ही नहीं पाते किसी एक राह पर और अंधेरा इतना है कि हम जितनी रौशनी पैदा करते हैं, उतनी ही अंधेरे की रौनक बढ़ती है। हम जितने ज़्यादा दृष्टि संपन्न होते जाते हैं हमारी वैचारिक संकीर्णता उतनी ही बढ़ती जाती है और इस सत्य की साक्षी वह संकीर्ण सांप्रदायिकता है, जिसके मूल में न मोहम्मद हैं, न मोहन, न नानक हैं, न नारायण और न ही गीता, ग्रन्थ साहिब या रामायण हैं, इसके मूल में सिर्फ संप्रदाय हैं, मठाधीश हैं, आडम्बर हैं और वह सब कुछ है, जिससे मोहम्मद से मोहन तक का कोई लेना–देना नहीं रहा बल्कि वे ताउम्र इसकी मुखालिफ़त करते लड़ते रहे।

इतिहास में शायद ऐसा पहली बार हो रहा है कि जो शख्सियत जिस बुराई के खिलाफ लड़ी हो, उस बुराई का जनक उसे ही या उसके दर्शन को मान लिया गया हो।

इसलिए मोहम्मद साहब के स्मरण पर्व पर यह बेहद प्रासंगिक होना चाहिए कि आज की सांप्रदायिकता के परिप्रेक्ष्य में उनके अवदान का मूल्यांकन किया जाए और यह समझने की कोशिश की जाए कि उनकी शिक्षाओं को तोड़–मरोड़ कर उनके रूपों को विकृत बना कर उनके माध्यम से जो लोग उन्माद की स्थिति पैदा कर रहे हैं, वे बेनकाब हों और इस्लाम का अर्थ उसके सही परिप्रेक्ष्य में समझा जाए।

इस्लाम का वास्तविक अर्थ है "शांति में प्रवेश करना", यह शब्द सुलह, समझौता, कौशल, विनम्रता, आज्ञाकारिता और ईश्वर के प्रति समर्पण की अभिव्यक्ति के लिये भी प्रयुक्त होता है। इस लिहाज़ से इस्लाम किसी जाति विशेष या समुदाय विशेष के आगे लगाया जाने वाला विशेषण नहीं है, अपितु समूची मानवता को दी गई अमोल धरोहर है।

इस्लाम का प्रवर्तन जिन परिस्थितियों में हुआ, यदि उन पर ग़ौर किया जाए, तो यह बात बड़े साफतौर पर सामने आएगी कि उन परिस्थितियों में इस्लाम का जन्म एक अनिवार्य आवश्यकता थी। जिस बंजर ज़मीन पर हज़रत साहब पैदा हुए थे, उस पर बसने वाले क़बीले बर्बर, क्रूर और वहशी थे, वे मूर्ति पूजक नहीं, पत्थर पूजक थे। आस्था और श्रद्धा के जिन महान मूल्यों को अपनी मूर्तियों में प्रतिष्ठित कर हिन्दुत्व जिस सनातन और आदि दृष्टि से इन मूर्तियों में अपने ईश्वर साक्षात् करता है, वे सारे मूल्य और भावनाएँ इन क़बीलों के मानस में कहीं नहीं थीं। पाषाण पूजा वास्तव में उनके लिए शोषण का माध्यम भर थी, यह ढोंग कट्टरता के चरम पर था, इसलिए यह कल्पनातीत था कि इस पाषाणी पूजा को सच्ची आराधना में बदला जा सके। इसलिए हज़रत साहब को जो इलहाम हुआ, वह निराकारी ईश्वर के रूप में

व्यक्त हुआ और वे इस निराकार ब्रम्ह के संदेशों के वाहक बने, पैगम्बर बने। इस इलहाम के गर्भ से जो दर्शन जन्मा वह बड़ा व्यावहारिक दर्शन था, जिसमें कोई दुरूहता नहीं थी। इस दर्शन ने उस समय की सामाजिक व्यवस्था को एक आदर्श जीवन पद्धति दी। हज़रत साहब एक गृहस्थ भी थे, राजनयिक और योद्धा भी थे इसलिए उनकी समग्र दृष्टि तात्कालिक सामाजिक व्यवस्था के प्रत्येक पहलू पर पड़ी। उन्होंने मुक्त छंद की तरह एक ऐसी शैली दी, जिसमें यात्राओं के रूढ़ बंधन नहीं थे, लेकिन वह संगीत की रागात्मकता से सराबोर थी।

इस जीवन पद्धति के लिए उन्होंने चार आयाम निश्चित किए, विश्वास, मंज़िल, संयम और परिष्कृत आचरण। रोज़ा, नमाज़, ज़कात, और हज की अनिवार्यता इस जीवन पद्धति को व्यवस्थित बनाने के लिए की गई। इन सारे आचरणों के मूल अर्थ पूर्णतः उन अर्थों से भिन्न हैं, जिन्हें आमतौर पर आज सोचा और समझा जाता है।

उदाहरण के लिए जिहाद को लें, हज़रत साहब के मुताबिक ज़िहाद किसी अच्छे के लिए किये गए आन्दोलन के कर्णधार की निष्ठा की परीक्षा का अर्थ है, जबकि आज ज़िहाद अंधे उन्माद से प्रेरित सांप्रदायिक युद्ध के रूप में माना जाने लगा है। "वसुधैव कुटुम्बकम्" इस्लाम की मूल भावना है, क्योंकि इस्लाम की दृष्टि में समूची मानवता एक गोत्रीय है। निराकार ब्रह्म की उपासना का दर्शन हज़रत साहब से सदियों पूर्व का है और हिन्दुत्व में ईश्वर को समानता का पोषक और सर्वज्ञ माना गया है, नमाज़ इसी ईश्वर की तन्मय हो की जाने वाली आराधना है।

अपने काव्य ग्रन्थ "काबा और कर्बला" में मैथिलीशरण गुप्त ने इन मूल्यों को बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है,

"समदर्शी—सर्वज्ञ हमारा
राज—राज राजधिराज
अपनी अपनी भाषाओं में
पढ़ सकते हैं, हम नमाज़"

मोहम्मद साहब क्षमा के पर्याय थे। गुप्तजी कहते हैं,

किया कठोर कुरैश ने कितना बैर विरोध
पर उस सक्षम की क्षमा लेती क्या प्रतिशोध

वे बड़े विनयशील थे, उन्हें यह कदापि पसंद नहीं था कि वे पूजे जाएँ, महिमामंडित हों और उनके नाम पर फिर आडम्बरों का सिलसिला शुरू हो जाए, उन्होंने तो उस पेड़ को भी कटवा दिया था जिसके नीचे बैठ कर वे चिन्तन किया करते थे, वे तो सिर्फ अपने को उस परम सत्ता का दूत और सेवक मानते थे, गुप्तजी ने लिखा,

"झूठे गौरव का मुझे तुम न बनाना पात्र
मैं हूँ उस जगदीश का दूत और जन मात्र।

स्त्री के प्रत्येक रूप को उन्होंने ऊँची प्रतिष्ठा दी और माँ को तो उन्होंने स्वर्ग के तुल्य माना।

"धर्मयुद्ध सेना में भरती
होने एक युवक चला
हज़रत ने पूछा – तेरे घर
और कौन जन है भला?
"एक मात्र माँ" सुनकर उससे
बोले नबी "नहीं–नहीं"
माँ के पैरों तले स्वर्ग है
जा तू पा उसको वहीं

(काबा और कर्बला)

इन उक्तियों से यह स्पष्ट है कि मोहम्मद साहब की दृष्टि बड़ी सहिष्णु और उदार थी। कुरआन के मुताबिक़ ऐसी दिव्य दृष्टि वाले महापुरुष हर जाति में उत्पन्न हुए और यह भी कि सच्चा मुसलमान वही है, जो सभी धर्मों से प्यार करे।

तब यह सवाल पैदा होता है कि इस्लाम के मूल्यों को उनके सही रूप में कैसे सामने नहीं आने दिया गया? इसका जवाब इतिहास के अध्यायों में है। वास्तव में इस्लाम का प्रवेश भारत में उन आक्रामकों के माध्यम से हुआ, जो इस्लाम की मूल भावना से ही नावाक़िफ थे। उनका उद्देश्य लूट और सत्ता को हथियाना था और इस्लाम को भी वे एक हथियार की तरह इस्तेमाल करते थे। इसलिए उन्होंने इस्लाम की विमलता के बजाय इस्लाम के नाम पर कट्टरता बाँटी, मन्दिर तोड़े, मूर्तियों का भंजन किया और बड़े पैमाने पर अत्याचार के बल पर धर्मान्तरण कराया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत के लोग इस्लाम के मूल्य वही समझने लगे, जो इन आक्रामकों ने रोपे। अक़बर और दाराशिकोह जैसे व्यक्तित्व भी इतिहास में आए, लेकिन उनकी कोशिशें सफल नहीं हो पाईं और जो थोड़ी बहुत सफलता उन्हें मिली भी उस पर औरंगज़ेब ने पानी फेर दिया। अंग्रेज़ों को न तो हिन्दुत्व से लेना–देना था न इस्लाम से, उन्हें सिर्फ अपनी सत्ता के स्वार्थ से मतलब था, इसलिए उन्होंने इस देश के जनमानस को सांप्रदायिकता के विष में डुबोकर अंततः भारत को ही बाँट दिया। आज हालत यह है कि हम सिवाय भगवान या अल्लाह के उन तमाम मन्दिरों और मस्जिदों की खोज खबर रखते हैं, जिनकी वजह से ईश्वर और अल्लाह अलग–अलग जाने जाने लगे हैं। हमारी आस्था का अस्तित्व मूल्यों पर नहीं, क़ीमतों पर टिका है, जो बाज़ार का रुख देख कर घटती और बढ़ती हैं। आज मूल्य और क़ीमत में फर्क करना ज़रूरी है, धर्म और सांप्रदायिकता का फर्क समझना ज़रूरी है, और सबसे ज़्यादा ज़रूरी यह है कि हम आचरण और कदाचरण में फर्क करें क्योंकि आज कदाचरण ही आचरण का पर्याय बन गया है।

मोहन से मोहम्मद तक सभी महान् व्यक्तित्व अपने महान् आचरणों के कारण ही भगवान और पैग़म्बर माने जाते रहे। इसलिए अंततः उनके द्वारा स्थापित मूल्यों में ही हमें धर्म का मर्म खोजना होगा, लौटना होगा, उसी मरूभूमि की ओर जिसके गर्भ से एक ऐसी शीतल जलधारा इस तिथि को फूटी थी, जिसने अपनी पहली छुअन से ही अपने चारों ओर फैली रेत के बीच हरियाली रोप दी और जिसके नीर ने मानवीय पीर की उष्णता को सोख लिया, क्योंकि हम चाहे जितना आगे बढ़ें, इन मूल्यों से आगे हम नहीं जा सकते।

"सिदरतुलमुन्तहा"

(जिससे आगे और कोई नहीं जा सकता)

13

मैं बंजारिन राम की

बंजारों का क्या ठौर, क्या ठिकाना, क्या मोह और क्या मंज़िल ? बंजारों के साथी तो सिर्फ रास्ते होते हैं, अंतहीन रास्ते जिनसे उनका रिश्ता अटूट होता है। दोनों एक दूसरे का साथ नहीं छोड़ते। बंजारे चलते रहते हैं। अनवस्त, एक जगह से दूसरी जगह। एक जगह से माल खरीदते हैं और अगली उसका सौदा कर लिया करते हैं। इस गतिशील और निरन्तर खरीद फरोख्त में ही जीवन बीत जाता है, सफ़र कट जाता है, प्रस्थान की बेला आ जाती है और मुसाफ़िर उस सफर पर चल पड़ता हैं जहाँ से उसे लौटना नहीं।

इन अर्थों में हम सभी बंजारे हैं, मगर फिर भी मोह पालते हैं, ठिकाने बनाते हैं, मंज़िलें तय करते हैं लेकिन सच्चा सफ़र शुरू नहीं करते, चाहते हैं कि बिना सफ़र के अपने–अपने ठौरों–ठिकानों पर ही माल बिक जाये, सौदे हो जाऐं, मोह उन रास्तों का पालते है जिन्हें यहीं रह जाना हैं, उस सफ़र की कोई परवाह नहीं करते जो सबसे ज़्यादा मूल्यवान है क्योंकि वह अकेले और कभी न लौटने के लिए तय करना है, सौदा उन वस्तुओं का करते हैं जिनसे धन मिले, ऐसा धन जिसे अकेले सफ़र में ले नहीं जा सकते।

जाने कब से यह सफ़र चल रहा है मुसाफिर आ जा रहे हैं, एक यांत्रिक गतिशीलता दीख पड़ती है इन रास्तों पर, रास्तों पर सजे बाज़ारों में, खरीद फरोख्त करते मुसाफिरों में, लेकिन ऐसा हमेशा नहीं होता, इस यांत्रिक गतिशीलता को भंग करने वाले कभी – कभी कुछ ऐसे बिरले बंजारे भी जन्म जाते हैं जिनकी राहें इस संसार की राहें नहीं होतीं, उनके कोई सरोकार वस्तुओं की खरीद फरोख्त से नहीं होते, उनकी सारी ज़िन्दगी उस रास्ते की तलाश में बीतती है जिसकी आदमी जीते जी परवाह नहीं करता, वे उनके लिए भटकते हैं, जो भटक गये हैं, वे भटकते हैं किसी समूह के लिए नहीं बल्कि सारी मनुष्यता के लिए, ऐसे ही एक बंजारे की ललक हैं।

"मैं बनजारनि राम की। तेरा नामु बखरू वापारूजी।
कोकिल होवा अंबि बसा सहजि सबद बीचारू।

मैं राम नाम की बंजारिन हूँ। हे प्रभु, तेरे नाम का सौदा ही मेरा व्यापार है। यदि मैं कोयल होऊं और आम के वृक्ष पर निवास करूँ तो उस स्थिति में भी सहज भाव से गुरू शब्द पर विचार करूं। यह नानक की वाणी है।

नानक भारतीय संस्कृति के इतिहास वृक्ष पर बैठी उस कोयल की तरह हैं जिसके मीठे गुंजन ने वर्ग भेद, वर्ण भेद और तमाम तरह के भेदों को लेकर मच रहे कर्ण कटु शोर को दूर किया और अपने आपको सच्ची मनुष्यता के एक ऐसे प्रकाश पुंज के रूप में प्रतिष्ठित किया जिसके किरणों की उजास में हम बड़ी सहजता से वह रास्ता खोज सकते हैं जिस रास्ते की परिणति अपने स्वयं की मुक्ति में है, इसलिए नानक वास्तव में व्यक्ति नहीं जीवंत उत्सव हैं

प्रकाश के। ऐसे उत्सव जिसे हम रोज़ मना सकते हैं और रोज़ अपने मन को मानवीय मूल्यों की रौशनी से नहला सकते हैं।

महान गुरू नानक का संदेश बड़ा सहज और संप्रेषणीय है। उनका संदेश समन्वय का है उनकी दृष्टि में सच्चा सिक्ख वह है जो सुधरा हुआ मनुष्य हो फिर वह भले चाहे हिन्दू हो या मुसलमान।

नानक उस युग में जन्मे जब पाखण्ड और आडम्बर, शोषण और छल अपनी पराकाष्ठा पर थे। वे इसी शोषण के सशक्त निषेध के रूप में उठ खड़े हुए, और बोले

जेरतु लगै, कपड़े जामा होई पलीतु।
तो रत पीवहि माणसा तिक किऊ निरमलु चीतु।।

यदि कपड़े पर खून लग जाए तो वह अपवित्र हो जाता हैं परन्तु जो लोग मनुष्यों का खून पीते हैं, उनका शोषण करते हैं, उसका चित्त किस प्रकार निर्मल रह सकता हैं? हिन्दुओं के लिए उनकी शिक्षा थी।

सालग्राम विप पूजि मनावहु सुकृतु तुलसी माला।
राम नाम जपि बेड़ा बांधहु बइया करहू बईआला।।

हे विप्र तुम हरि को शालिग्राम बनाओं और शुभकरणी को तुलसी की माला समझो। राम नाम के जप का बेड़ा बांधों और दयालु ईश्वर से दया की याचना करो। और मुसलमानों के लिए उनका कहना था।

मिहर मसीति सिबकु मुसला हकु हलालु कुराण।
सरम सुनति सीलु रोजा होहु मुसलमाणु।।

दया को अपनी मस्जिद बनाओ, श्रद्धा को मुसल्ला, हक़ की कमाई को कुरआन, लज्जा को सुन्नत मानो और शील स्वभाव का रोज़ा रखो, तब तुम सच्चे मुसलमान बनोगे।

गुरू नानक निराकार वादी थे। वे मूर्तिपूजा को नहीं मानते ते। उनका सारा ज़ोर कर्मण्यता पर था। ईश्वर की व्याप्ति को वे पृथ्वी के कण–कण में मानते थे, कहते थे कि इस निखिल सृष्टि को ब्रम्हमय मानकर प्रणाम करो। उनके प्रभु की आरती बड़ी विलक्षण थी। वे कहते थे हे प्रभु तुम्हारी विराट आरती में आकाश ही आरती का भाल है, उसमें सूर्य और चंद्रमा रूपी दीपक हैं, तारामण्डल उस माल में जड़े हुए मोती हैं मलय पवन आरती की धूप हैं, वायु चंवर कर रहा हैं और सम्पूर्ण वनस्पति पूजा के फूल हैं।

गुरूनानक का दर्शन जहां एक ओर वेदान्त से ओत–प्रोत है वहीं दूसरी और उसमें तसव्वुफ के भी लक्षण दीख पड़ते हैं। विशेष रूप गुरू नानक की उपासना के चारों अंग सरन खण्ड, ज्ञान खण्ड, कर्म खण्ड तथा सच खण्ड सूफियों के चार मुक़ामात शरीयत, मारफ़त, उक़बा और लाहूत से काफी साम्य रखते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में गुरूनानक का धर्म सरल,

सुकुमार, समन्वयवादी तथा विनयपूर्ण था। उनकी वाणी को उनके पश्चात्वर्ती गुरू अंगद ने गुरूमुखी में लिपिबद्ध कर संयोजित किया और यह गुरूवाणी एक पवित्र प्रेरणा की पर्याय वाणी के रूप में सारे भारत में गूंजने लगी। ग्रंथ साहिब का संकलन और संपादन सन् 1604 ई. में पांचवे गुरू अर्जुनदेव ने किया। इस ग्रन्थ में आदि के पांच गुरू और नवें गुरु तेगबहादुर के वचन संग्रहीत हैं, तथा एक दोहा गुरू गोविन्दसिंह जी का है इसके अलावा अन्य हिन्दू संतों और सुधारकों के भी पद हैं।

गुरू नानक सिक्ख धर्म के पहिले गुरू थे। गुरू नानक से लेकर गुरू गोविन्दसिंह तक दस गुरू हुए जिनके नाम क्रमशः नानक, अंगद, अमर्दास, रामदास, अर्जुन, हरगोविंद, हरराय, हर कृष्णराय, तेगबहादुर और गोविंदसिंह हैं। प्रत्येक गुरू अन्त समय में अपने उत्तराधिकारी को अपना पद सौंपकर उसे पंथ का गुरू घोषित कर दिया करते थे लेकिन जब गुरू गोविन्दसिंह स्वर्गवासी होने लगे तब उन्होंने ग्रंथ साहिब को ही पंथ का गुरू घोषित किया और यह आज्ञा दे दी कि अब से कोई व्यक्ति गुरू नहीं होगा।

यह परम्परा आज भी विद्यमान है। भारतीय संस्कृति की उदार चेतना को समृद्ध करने में सर्वाधिक योगदान देने वाले मध्यकाल में गुरू नानक थे क्योंकि उनका सहज कर्म ओर रूढ़ियों से विद्रोह तात्कालिक लोक मानस को बहुत भाता था। वे केवल मनुष्यता के आराधक थे ओर उनकी पहली चिन्ता यही थी कि मनुष्य कैसे उदार बने, सहिष्णु बने, जुड़े। जोड़ने का यही संकल्प नानक को अद्वितीय बना गया क्योंकि वह युग तोड़ने का था। टूटती दीवारों के बीच खड़े रहकर निर्मल आस्था की नींव पर, सहज मानवीय मूल्यों की ईटों से मर्म के मंदिर का निर्माण करना बड़ा साहसिक कार्य था। यह साहस उन्होंने संजोया। अपने संकल्प को उन्होंने मूर्तिमान किया। नानक ने जो मंदिर खड़ा किया वह मंदिर ऐसा था जो प्रत्येक के मन धरातल पर प्रतिष्ठित हो सकता था। नानक की यही कोशिश थी कि हम बजाय मूर्तियों के पीछे भागने के उस सच्चे ईश्वर भाव को अपने मन में प्रतिष्ठित कर लें जो भाव हमारे सफ़र को सार्थक करेगा।

गुरू नानक बहुत प्रासंगिक हैं आज के परिवेश में क्योंकि आज का परिवेश भले समय के लिहाज़ से बदला हो लेकिन उसकी प्रवृत्तियाँ वहीं हैं जो नानक के समय थीं और दुर्भाग्य यह है कि आज कोई नानक नहीं है। नानक के नाम पर तोड़ने वाले हैं लेकिन नानक जैसा कोई जोड़ने वाला नहीं। नानक की वाणी का गान करने वाले बहुत हैं लेकिन इस वाणी को अपने आचरण और कर्म में साकार करने वाले बहुत कम। मग़र भले हमारे बीच नानक की देह न हो, उनकी वाणी ज़रूर मौजूद है जो सिर्फ कंठों तक सीमित नहीं, बल्कि जिसका स्वरूप किरणों जैसा भी हैं। इस वाणी में सिर्फ मिठास नहीं उजास भी है इसलिए इसे आत्मसात् कर हम प्रेम की मिठास से परिपूर्ण हो अपने आपको जगमगा भी सकते हैं। यदि यह हो पाया तो नानक जिस प्रकाश उत्सव के उत्स हैं, हम भी उसी उत्स के पर्याय बन सकते हैं। लेकिन क़बीर की तरह नानक ने भी आगाह किया था कि प्रेम का खेल बड़ा कठिन हैं। मग़र आज तो इस प्रेम में डूबना होगा। इस खेल को अपना सब कुछ दांव पर लगाकर खेलना होगा

क्योंकि बिना यह दायित्व निभाए, इस देश का और हमारा अस्तित्व ही नहीं निभ पाएगा। आज की पहिली ज़रूरत प्रेम के मार्ग पर पैर रखना और बिना संकोच के सिर देना है क्योंकि बिना प्रेम में डूबे निभने और निभाने के कोई अर्थ नहीं रहते।

जऊ तऊ प्रेम खेलण का चाऊ।
सिरु धरि तली गली मेरी आऊ।
इतु मारगि पैरू धरीजे।
सिरू दीजै काणि न कीजै।

14

बंधनमुक्त से बँधे

मन जब बहुत उन्मन हो, गहरे अवसाद से घिरा हो, उदासी में डूबा हो, तब उसे स्मृतियाँ बेहद सताती हैं। वे उसे जाने कहाँ–कहाँ ले जाती हैं और जब ये स्मृतियाँ भी उसे दिलासा नहीं दे पातीं, उबार नहीं पातीं तो फिर वह उस अलौकिक शक्ति की ओर दीन दृष्टि से निहारता है, जिसके बारे में उसका आदि विश्वास है कि वह शक्ति उसे इस अवसाद से उबार देगी। इसे निहार लेने को वह कभी प्रार्थना कहता है, कभी ध्यान, कभी आराधना। यही निहार लेना जब मूर्त होता है तो पूजा, और अर्चना के आचार में परिणत हो जाता है। नानक ऐसे निहार लेने के सशक्त निषेध हैं। उनका निहारना तो ऐसा है कि जिसकी परिधि में वह आता है जिसकी कोई परिधि नहीं। घेरा तो तभी टूटेगा अवसाद का, जब घेरे के बाहर निहारोगे। समाधान परिधि के अन्दर नहीं मिलेंगे, घेरे के अन्दर नहीं मिल पाएँगे क्योंकि जकड़े रहकर उन्हीं बंधनों से कैसे उत्तर पाओगे कि उन्हें तोड़ा कैसे जाए? इसलिए नानक ने अपनी वह दृष्टि विकसित की, जो घेरे के बाहर देखती थी और उसे देखती थी, जिसे किसी आकार में न तो बाँधा जा सकता था, न आकृतियों के रूप में पूजा जा सकता था।

नानक का निराकार आराध्य बड़ा सशक्त था और इसीलिए था क्योंकि उसकी ताक़त मनुष्य को उसकी निस्सीम संभावनाओं से परिचित कराती थी। नानक ने इसी निराकार आराध्य को निहारा था, क्योंकि वह किसी घेरे के अन्दर नहीं था, वह बंधनमुक्त था। इसलिए उसे निहारकर अपने अवसाद को दूर करने के उत्तर पूछे जा सकते थे। अपने समय में नानक ने यही किया और अपने मन में बजाय किसी अंधी आस्था के, विवेक का दीप जलाकर ज्ञान के प्रभु की आराधना की,

मन मंदरि जे दीपकु जाले काइया सेज करेई।
गिआन राउ जब सेजै आवै त नानक भोगु करेई।

हमारे देश में विवेकहीन आस्था के कारण पाखण्ड जन्मता रहा है और इसी के कारण अंतहीन शोषण। भोले जनों की निर्मल आस्था को ईश्वर के नाम पर बहुत छला गया और इस आस्था को संप्रदायों, पंथों, मठों और मठाधीशों के माध्यमों ने बहुत शोषित किया। अपने–अपने समय में कबीर और नानक जैसे लोगों ने बहुत आवाज़ उठाई, लेकिन उनके जाते ही वे भी इस छल के शिकार हो गए। हमारे समाज के साथ मुश्किल यह रही कि वह इन युगपुरुषों के विचारों की ओर उन्मुख तो हो गया, लेकिन वह इन विचारों को अपने आचरण में नहीं संजो पाया और उसकी यही विवशता उसे संकीर्ण आचार बंधनों में बाँध गई। आचार प्रमुख हो गया, विचार गौण।

नानक जैसे विवेक पुरुष विचारों के साथ स्मरण करने और इन विचारों को अपने आचरण में क्रियान्वित करने के लिए प्रेरित करने वाले व्यक्तित्व हैं। उनकी वाणी का जाप

उनका सार्थक स्मरण नहीं है, क्योंकि जाप के लिए उन्होंने संघर्ष नहीं किया, बल्कि उनके संघर्ष के तप से ही ऐसा जप फूटा, जो सिर्फ आचरण में ढालने के लिए है। वे अपने समय में इसीलिए इतने लोकप्रिय और समादृत भी हुए, क्योंकि बड़ी सहज वाणी में उन्होंने कर्म का जप स्वयं किया और उसी का आह्वान किया। हिन्दू और मुसलमान दोनों जिन जड़ रूढ़ियों में जकड़े थे, उनसे मुक्त करने का उन्होंने बीड़ा उठाया। उन रूढ़ियों की ओर उन्होंने इंगित किया और दोनों ही समुदायों के लोगों को बड़े संप्रेषणीय ढंग से समझाया कि यदि सच्चे प्रभु की अनुभूति चाहते हो तो उन आडम्बरों को छोड़ो, जिनमें तुम ईश्वर ढूंढ़ रहे हो। आभिजात्य के आडम्बर पर उन्होंने तीखा प्रहार किया और अपने आपको समाज के निम्नतम वर्ग का सच्चा प्रवक़्ता सिद्ध करते हुए कहा,

"नीचां अंदरि नीच जाति नीची हू अति नीचु।
नानक तिनकै संगि साथि वडिआ रिउ किआ रीस
जित्थै नीच समालिअनि तित्यै नदरि तेनी बखसीस।

अर्थात् नीच जातियों में जो नीच हैं और उन नीचों में भी जो बहुत नीच हैं, हे नानक! मेरा उन्हीं से संग साथ है। मुझे बड़े लोगों (जातियों) से कोई बराबरी नहीं करनी है – जहाँ नीचों को संभाला जाता है, परमेश्वर की कृपा दृष्टि भी वहीं होती है।

नानक आत्मविश्लेषण पर, आत्मपरिमार्जन पर बहुत ज़ोर देते थे और उसी तरह की दीवानगी में डूबे थे, जैसे दीवानगी में गोरा अन्दाल डूबीं, ताज डूबीं, मीरा डूबीं और अन्य सूफी सन्त और भक्त कवि, उन्होंने कहा,

तऊ देवाणा जाणीऐ जा साहिब घरे पिआरू।
मंदा जाणै आप कउ अवरू भला संसारू।

याने उस व्यक्ति को दीवाना समझना चाहिए, जिसके हृदय में परमात्मा का प्रेम है। जो अपनी बुराइयाँ देखता है और संसार के सभी प्राणियों में भलाई देखता है। उनकी विह्वलता अपने पूरे आवेग के साथ इन पंक्तियों में झांकती है।

हरिणी होवा बनि बसा कंद मूल चुणि खाउ।
गुर परसादी मेहुसरा मिलै वारि वारि हउ जाउ जीउ।
"यदि मैं हिरनी होऊं, वन में वास करूं और कंद मूल खाऊं,
फिर भी गुरु की कृपा से मेरा प्रियतम मिले,
तो मैं उस पर बार–बार बलिहारी जाऊं।"

नानक केवल आत्ममग्न निरे सन्त नहीं थे, बल्कि वे सामाजिक असंगतियों के विरोध में खड़े हो कर समूचे समाज को तंद्रा से जगा देने के लिए उठ खड़े होने वाले एक विनयशील योद्धा भी थे। वे केवल उपदेश ही नहीं देते रहे बल्कि पूरे देश और देश के बाहर घूमे भी तथा घूम–घूम कर उन्होंने मनुष्य मात्र के परिमार्जन का कार्य किया। यह भी उल्लेख मिलता है कि

वे बग़दाद भी गए जहाँ उनकी स्मृति में मन्दिर बनाया गया तथा अभी तक नानक के सैय्यद वंशीय चेलों के उत्तराधिकारी उसकी रक्षा करते रहे हैं। उनके निरंतर घूमते रहने के कारण उनके चिन्तन का व्यापक प्रभाव पड़ा और समाज के एक बड़े वर्ग की आँखें खुलीं तथा निचले तबके के लोगों ने उन्हें एक उद्धारक के रूप में पाया।

उनकी लोकप्रियता इसलिए भी बढ़ी क्योंकि जहाँ एक ओर उन्होंने धार्मिक पाखण्ड के विरोध में आवाज़ उठाई, वहीं दूसरी ओर हिन्दुओं के वेदान्त की अपने ढंग से व्याख्या की और सूफी तत्वों की विमलता को भी अपने दर्शन में समेटा। उन्होंने जहाँ एक ओर कर्म, पुर्नजन्म, निर्वाण और माया को मानते हुए ब्रह्मा, विष्णु, महेश के त्रिदेवत्व में विश्वास जताया, वहीं दूसरी ओर गुरू परम्परा और सूफियों के मुक़ामातों के प्राण तत्वों को भी ग्रहण किया। हमारी सामासिक भारतीय संस्कृति का जो विमल और उत्कृष्टतम स्वरूप हो सकता था उसके वे प्रतिनिधि पुरुष बने। सिक्ख धर्म में जो विनयशीलता थी, वह बाद में एक ओजस्विता में बदली, जिसका प्रमुख कारण तत्कालीन मुग़ल शासकों का कट्टरवादी रवैया गुरुओं के प्रति था और यही वजह थी कि जिस निराकार ब्रह्म को नानक ने "निरंकार पुरुख" कहा उसे गुरू गोविंदसिंह ने "असिध्वज", "महाकाल" और "महालौह" की संज्ञा दी और तभी से सिक्ख जाति ने एक योद्धा स्वरूप ग्रहण किया।

लेकिन गुरू नानक को केवल एक पंथ या समुदाय तक सीमित रखना उनके प्रति अन्याय है। विडम्बना यह है कि जिस व्यक्तित्व ने जोड़ने के लिए अपने आप को समर्पित कर दिया आज उसी के नाम पर हमारा समाज बहुत टूट रहा है। वह सांप्रदायिकता नानक के लिए दिवास्वप्न रही होगी, जिस सांप्रदायिकता के हलाहल ने हमारे देश की अस्मिता तक को विभाजित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। नानक जैसे पुरुष किसी जाति विशेष या धर्म विशेष के नहीं होते, वे तो बना दिए जाते हैं, सीमित कर दिए जाते हैं, जिसने अपरिमित और असीमित की ही आजीवन आराधना की हो उसे सीमाओं में बांधने का यत्न हमारी संकीर्णता है और इसी संकीर्णता को यदि दूर कर लिया जाए, तो वह सब प्रदूषण अपने आप ख़त्म हो जाएगा, जो नानक के नाम पर जन्म गया।

बेहतर हो हम नानक के नाम पर फैले इस प्रदूषण से बँधने के बजाए उस नानक से बँधे, जिसने कभी बंधनों में बंध कर उनसे अपने अवसाद को दूर करने के उत्तर नहीं चाहे क्योंकि बंधनमुक्त से बंध जाओ तो यह बंधना तो कहलाएगा लेकिन हम स्वयं बंधनमुक्त हो जाएँगे और मन का अवसाद कब तिरोहित हो गया, यह हमें मालूम ही नहीं होगा।

मुक्ति के लिए नानक से बंध जाना बेहद ज़रूरी है।

15

चल हंसा वह देस जहं पिया बसैं चितचोर

धधक जाना आग का नैसर्गिक संस्कार है, फिर चाहे कोयला हो या मन, संस्कार की प्रवृत्ति कोई भेद नहीं पालती। आँच सुलग जाती है और आग के अलाव धधकने लगते हैं। इस आग से चिन्गारियाँ जन्मती हैं जो जमी हुई राख की परतों को हटाकर वह सब भस्म कर देती हैं जो सत्य की दमक पर चढ़े आवरण हैं।

इसलिए कबीर का नाम आते ही आँखों के सामने एक ऐसी चिन्गारी उभरती है, जो सत्य के सोने पर जमी रस्मों के आवरण भस्म कर उसकी प्रखर कांति को उजागर कर देती है। यह बात अलग है कि चिन्गारी की नियति की तरह कबीर की भी नियति रही। वह कहाँ से उपजी और कहाँ दमक कर विलीन हो गई, इसे कोई नहीं जानता।

सच को उजागर करने वालों के साथ इतिहास का यही व्यवहार रहा है, चाहे वह सुकरात को दिया गया ज़हर का प्याला रहा हो, मंसूर को फांसी पर टाँगने वाली रस्सी रही हो या कबीर की मौत पर इतिहास के मौन की चादर।

सच इतना कड़वा भी होता है कि वह अपने को उजागर करने की बहुत कम इजाज़त देता है और जिन्हें दे देता है वे उसी के घूंट पीकर मरर्ण वर लेते हैं। लेकिन उनका मरना एक मृत समाज की संजीवनी होता है।

वे जन्मे, जिये, मरे मगर फिर ऐसे जीवन्त हो उठे कि उनकी मृत्यु आने वाले युग के प्राण बन गई।

कबीर ऐसे बिरले प्राण हैं जो मरण की कोख से जन्मे,

जिसका जन्म ही मरण के गर्भ से हुआ हो उसकी जीवन्तता का क्या अंत होगा? कबीर तो स्वयं मरना चाहते थे लेकिन उनके मरने से भी जग डरता था। उन्होंने कहा –

'जा मरने से जग डरे, सो मेरे आनन्द'
कब मरिहों, कब देखिहों पूरन परमानन्द'

बड़े विलक्षण थे कबीर, लोग उनके जीवित रहते भी उनसे दुखी रहे और उनकी मृत्यु के बाद और अधिक दुखी रहे। यह विलक्षणता उनकी वाणी का प्रतिफल थी। बेलाग, बेलौस, ठेठ, दो टूक, सीधी और मर्म को अन्दर तक बेध देने वाली उनकी वाणी ने समाज की सोई चेतना को झकझोर कर उठा दिया। इस वाणी से जो सवाल उठे वे आज भी जिंदा हैं और इस वाणी के फक्कड़पन को आज तक न तो कोई आभिजात्य चुनौती दे सका और न ही कोई पांडित्य पराजित कर सका।

कबीर निर्गुण ब्रह्म के आराधक थे, उस काल में जिसमें कबीर जन्मे, सगुणोपासना का ज़ोर था और इस सगुणोपासना की आड़ में तरह–तरह के पाखंड और वितण्डावाद जन्म रहे थे। धार्मिक रूढ़ियों के पाश में हिन्दू और मुस्लिम मानस कुछ ऐसा जकड़ा हुआ था कि उससे निजात पाने की कोई नौबत नहीं दीखती थी।

उपासना आडम्बरों के कारागृह में कैद थी। प्रत्येक धर्म के मूल चिंतन को विस्मृत कर दिया गया था और पंडितों, मौलवियों ने अपने आपको प्रतिष्ठित करने के लिए धर्म के मर्म को तिलांजलि दे दी थी, संप्रदायवाद और मठवाद प्रमुख हो गए थे और धर्म की आत्मा गौण। अपने आराध्य को पाने के लिए कई सोपान बना दिए गए थे जिनमें से एक प्रमुख सोपान भक्ति का था किन्तु वह सामान्य लोकमानस की पहुँच से दूर कर दी गई थी और वे सोपान निर्माता स्वयं इस दूरी को पार कराने के पुल बन गए थे, माध्यम बन गए थे।

कबीर के सामने सिर्फ एक ही रास्ता था जिससे वे ये पुल तोड़ सकते थे और भक्ति को अपनी सहजता के साथ लोकमानस की परिधि के बीच ला सकते थे। यह रास्ता निर्गुण ब्रह्म की उपासना का था। इस उपासना के लिए न चंदन जरूरी था, न माला, न यज्ञ आवश्यक था न पूजा, किसी पंडित के मार्गदर्शन की ज़रूरत भी नहीं थी। इस उपासना के लिए जाति या वर्ण के अवरोध बीच में नहीं थे। कबीर ने उस युग में अपने आपको ऐसे ही देश का वासी बताकर अलौकिक ब्रह्म की बड़ी सार्थक और मौलिक कल्पना की।

"हम वासी उस देश के, जहं जाति वरन् कुल नाहि,
सब्द मिलाया होय रहा, देह मिलावा नाहिं
हम वासी वा देश के जहं पान ब्रह्म का खेल
दीपक जरे अगम्य का, बिन बाती बिन तेल "

उनका निर्गुण ब्रह्म प्रेम और करुणा से ओतप्रोत है। वे बड़े विव्हल हैं, अपने इस निर्गुण पिया से मिलने को, आकुल हैं उस देश में जाने को जहां उनका चितचोर बसता है। वे अपने निरगुनिया पिया की याद में विभोर हो गा उठते हैं।

"चल हंसा वह देश जंह पिया बसैं चितचोर।
सुरत सोहागिन है पनिहारिन भरे ठाट बिनडोर।।
वाहि देसवां बादर ना उमड़ें, रिमझिम बरसे मेह।
चौबारे में बैठ रहो ना, जा भीजहु निर्देह।।
वाहि देसवा में नित्त पूर्तिमा कबहूं न होय अंधेर।
एक सूर्ज कै कवन बतावै, कोटिन सुरज उजेर।।

कबीर ने अपने पिया को पाने के लिए प्रेम का मार्ग चुना। सहज प्रेम का ऐसा भक्तिमय मार्ग जो पूर्ण समर्पण के साथ चलने वाले पथिक चाहता था। कबीर ने बड़ी सहज भाषा में एक गहरे सूफियाना आध्यात्म को पिरोते हुए बैलोस लहज़े में कहा–

'समुझ देख मन मीत पियवा
आसिक होकर सोना क्या रे।
पाया हो तो दे ले प्यारे
पाय पाय फिर खोना क्या रे
जब अंखियन में नींद घनेरी
तकिया और बिछौना क्या रे।
कहै कबीर प्रेम का मारग
सिर देना तो रोना क्या रे।

कबीर के प्रेम का यह मार्ग बड़ा कठिन था। वे यह सत्य जानते थे कि प्रेम की निरन्तरता बहुत कम बरक़रार रह पाती है। ज़्यादातर प्रेम एक घटा की तरह घुमड़ता है और कुछ पल बरस कर फिर थक जाता है। घटा विलीन हो जाती है और नेह की पावस बूँदें सूख जाती हैं। प्रेम की धाराएँ फूट पड़ती हैं, लेकिन हरेक धारा गंगा या यमुना की भाँति निरन्तर, अनवरत प्रवाहमान नहीं रह पातीं। इसलिए उन्होंने आगाह भी किया।

'आगि आंच सहना सुगम
सुगम खड्ग की धार
नेह निबाहन एक रस
महाकठिन व्यवहार।

अपनी इस निर्गुण साधना के पथ को स्पष्ट करते हुए उन्होंने फिर उन आडम्बरों और पाखंडों पर सीधी चोट की जो इस साधना पथ पर अवरोध के रूप में आड़े आते थे। उनका प्रहार उन वृत्तियों पर था जो ब्रह्म को पाने के लिए बाधक बन कर खड़ी थीं। उनकी व्यापक दृष्टि के दायरे में हिन्दू और मुसलमान दोनों आते थे तथा दोनों संप्रदायों की रूढ़ियाँ और कुरीतियाँ उन्हें विचलित करती थीं। उनकी पैनी दृष्टि उन तमाम व्याप्त विसंगतियों पर पड़ती थी जिनके कारण समाज की चेतना भ्रमित होती थी या जड़ हो जाती थी। उनके आघात सीधे इन्हीं विसंगतियों पर पड़ते थे। इस मायने में कबीर हिन्दी के पहिले मौलिक व्यंग्यकार थे। परसाई ने कहीं सही लिखा है कि व्यंग्य हिन्दी साहित्य में शूद्र माना गया है। वह ब्राह्मण होना भी नहीं चाहता क्योंकि ब्राह्मण कीर्तन करता है।

कबीर ब्राह्मण नहीं थे और न ही होना चाहते थे, उनकी वाणी कोई प्रतिदान या पुरस्कार भी नहीं चाहती थी। आज के युग में परसाई ने कबीर की इसी मौलिकता को अपने व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों में साकार किया है, परसाई और कबीर के बीच पीढ़ियों का एक लम्बा अंतर है, लेकिन विडम्बना यह है कि समाज की विसंगतियाँ आज भी लगभग उसी रूप में मौजूद हैं जिस रूप में कबीर के ज़माने में थीं। इसलिए परसाई हों या कबीर समाज के आइने नहीं चिन्गारियाँ हैं जो सामाजिक असमानता के घर्षण से उपजती हैं। कबीर के चिंतन की चिनगारी बड़ी ओजस्वी थी। उसने किसी को नहीं बख्शा। किसी से परहेज नहीं किया। हम कल्पना कर सकते हैं इस चिन्गारी से कितनी तिलमिलाहट हुई होगी।

'साधो पांडे निपुन कसाई
बकरी मारि भेड़ि को धाए, दिल में दरद न आई
करि अस्नान तिलक दै बैठि विधि सौ देवि पुजाई
गाय वधै सो तुरक कहावै, यह क्या इनसे छोटे
कहें कबीर सुनो भई साधौ कलि में ब्राह्मण खोटे,

कबीर बड़ी अद्‌भुत प्रतिभा के धनी थे, उनकी कोई शिक्षा–दीक्षा नहीं हुई थी। लिखना पढ़ना उन्हें आता नहीं था। उनके पास जो कुछ भी था सब नैसर्गिक था, स्वानुभव सिद्ध था इसलिए उनके मन में कोई पांडित्य की ग्रंथि नहीं थी। वे समाज के निम्नतम वर्ग से आए थे लेकिन उस वर्ग की मानसिक दीनता या अकिंचनता की ग्रंथि भी उनमें नहीं थी। अपितु उनकी यहीं आभिजात्यहीनता उनका अमोघ अस्त्र बन गई।

आडम्बर में दीक्षित करने वाली शिक्षा पर करारा व्यंग्य करते हुए उन्होंने कहा,

"पढ़ि पढ़ि के पत्थर भया लिखि लिखि भया जूं ईंट
कहें कबीरा प्रेम की, लगी न एका छींट
पोथी पढ़ि–पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय
ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय"

और गंगा स्नान के पुण्य पर प्रश्न चिह्न लगाते हुए वे बोले,

चली है कुलबोरिन गंगा नहाय।
बिछुआ पहिरिन, औंठा पहिरिन, लात खसम के मारिन धाय
गंगा न्हाइन, जमुना न्हाइन, नौ मन मैल लिहिन चढ़ाय।

कबीर की यह निस्संग अक्खड़ता उनके व्यक्तित्व और वाणी की विशेषता है। ऐसा नहीं था कि इतने कठोर प्रहार करते हुए भी वे आपको सुरक्षित रख पाते।उनके आसपास बहुत ख़तरे थे। इतनी संकीर्ण मानसिकता वाले समाज के बीच वे एक खुली चुनौती के रूप में खड़े थे। उनका विरोध मुखर था और वाणी इतनी तिक्त कि वह सिवाय तीखी तिलमिलाहट के कोई और अनुभूति नहीं देती थी इसलिए कबीर ने पहिले खुद का घर फूंका और बाद में आव्हान किया कि जिसमें यह ताक़त हो वह उनका अनुगमन करें, साफ–साफ उन्होंने कहा,

'हम घर जारा आपना, लिया मुराड़ा हाथ
अस घर जारों तासुका, जो चले हमारे साथ'

बड़ा कठिन काम था यह। क्योंकि घर फूँक देने का उपदेश देने वाले बहुत होते आए हैं, लेकिन कबीर और उनमें फर्क सिर्फ इतना रहा कि कबीर के अलावा बाकी के ये उपदेशक अपनी आलीशान अट्टालिकाओं में बैठ कर उपदेश देते रहे। कबीर ने उपदेश बाद में दिया और घर पहिले फूँका। इसलिए कबीर की विडम्बना यह रही कि उन्हें गाने वाले उनका आख्यान करने वाले तो कई हुए उनके अनुगामी बहुत कम।

आज भी जहां कबीर वास्तव में जीवित हैं उन स्थानों पर कोई मंदिर नहीं है, कबीर जहां जीवित हैं वे तो आज भी वहीं चौपाले हैं जहां निम्नतम तबके के कहे जाने वाले लोग सांझ को अपने सार्थक श्रम को पूर्ण कर पूरी भक्ति और आस्था के साथ कबीर गाते हैं।

पीढ़ियाँ गुज़र गईं, विकास के जाने कितने प्रतिमान कायम हो गए, समानता के जाने कितने उद्घोष हुए, जाने कितने संविधान रच दिए गए वर्ग भेद को मिटाने के लिए लेकिन आभिजात्य और आवरण के दंभ आज भी कायम हैं।

शायद कबीर समानता की गंगा को उतार लाने का संकल्प धारने वाले ऐसे भगीरथ थे जिनकी तपश्चर्या अभी पूर्ण नहीं हुई। इतना सब होते हुए भी यह एक वास्तविकता है कि कबीर का आन्दोलन रंग लाया और उसने चेतना की तंद्रा को तोड़ा, भोर हुई, भले धुंधलका पूरी तरह छँट नहीं पाया हो।

धुंधलका चाहे किरणों के सामने का हो या सच के सामने का उसके छँटने में देर लगती है और सच के सामने की धुंध को छँटने में तो सदियों की कई श्रृंखलायें लगती हैं, इसलिए इतनी जल्दी यह नहीं माना जा सकता कि कबीर का सच धुंध में कहीं खो गया। अभी प्रतीक्षा ज़रूर करनी होगी।

आज का परिप्रेक्ष्य तो कबीर के और ख़िलाफ है। वर्गभेद, सांप्रदायिकता, आभिजात्य और संकरेपन की दीवारें जिस तेज़ी से उठती जा रही हैं, ये दीवारें कबीर और लोकमानस के बीच सबसे बड़े अवरोध हैं और विडम्बना यह है कि इन दीवारों को वे ही खड़ा कर रहे हैं जो कबीर की मूर्ति का अनावरण करते हैं या उनकी पंक्तियों से अपने भाषण की शुरूआत करते हैं, इसे क्या संज्ञा दी जाए? इसे मूल्यों का विघटन भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि जब कोई मूल्य अस्तित्व में हों तब तो उनका विघटन होगा? ऐसी स्थिति में कबीर बहुत प्रासंगिक होते हुए भी, बड़े गैर प्रासंगिक हो गए हैं, व्यवहार मूल्यों में।

मूल्यहीनता की यह जड़ता तोड़ने के लिए बेहद जरूरी है कबीर को फिर पूरी शिद्दत के साथ याद किया जाए। मुमकिन है कि कबीर की वाणी की याद के प्रहार हमें फिर झकझोर दें।

लेकिन कबीर को याद करने के लिए यह सावधानी भी बहुत आवश्यक है कि उन्हें पांडित्य के परिप्रेक्ष्य और संदर्भों में याद न किया जाए, उन्हें उसी सहज रूप में याद किया जाए जिस रूप में वे जन्मे और उनकी वाणी फूटी।

उसी सहज वाणी में, उसी निर्मल और आडम्बरहीन परिप्रेक्ष्य में उन्हें याद करना होगा जो उनकी मूल आत्मा थी। उनकी वाणी को यदि वादों के बीच संजोया गया तो फिर इस भगीरथ की तपश्चर्या और लम्बी हो जाएगी।

ऐसे मौक़े पर जब सांप्रदायिकता का विष सारे देश को विषाक्त करते हुए, हमारे भ्रातृत्व को मरण के कगार तक खींच लाया है, इससे ज़्यादा और क्या सार्थक होगा कि हम कबीर

की इस वाणी के पीयूष को जन जन और कण कण में बिखेर दें और खुद भी इस अमृत की अमर धारा के जल में आकंठ डूब लें।

वही महादेव, वही मंहमद, ब्रह्मा आपन कहिये,
को हिन्दू, को तुरुक कहावे, एक जिमी के रहिये
वेद कितेब पढ़े वे कुतुब, वे मौलाना वे पांडे
बैगरि बैगरि नाम धारये, एक मटिया के भांडे।

16

भींजै चुनरिया प्रेम रस बूंदन

जुलाहों का पेशा वस्त्र बुनना है। देह जब अपने कर्मों से लजाने लगी तब उसे वस्त्र ज़रूरी जान पड़े और देह की यही ज़रूरत इस जाति का जन्म बनी। लज्जित देहों को ढाँकने के लिए यह जाति सूत के तानों और बानों से समाज के लिए वस्त्र बुनती रही, लेकिन कालांतर में इस जाति ने एक ऐसा बिरला जुलाहा भी जन्मा, जिसने अपने पेशे की वृत्ति को बरक़रार रखते हुए भी कुछ ऐसा बुना, जिससे समाज निरावृत्त हो गया।

इस जुलाहे ने जितना बुना समाज उतना ही निरावरण हुआ।

उसने अपने अदृश्य निरगुनिया रेशों से चादर बुनी, चूनर बुनी और वह सब कुछ बुना, जिसे आँखें न देख सकें, पर मन देख ले, जिसे पहिन लें, तो निरावरण भले हो जाएँ, मगर सत्य की रौशनी से जगमगाने लगें और यदि त्याग दें, तो ज़रूर परिधान पहिने प्रतीत हों, लेकिन इन परिधानों में छुपे तिमिर के समन्दर में कब अपनी अस्मिता को लिए डूब जाएँ, इसका कोई भरोसा नहीं।

इसलिए इस जुलाहे के बुने वस्त्र बड़े निराले हैं, जिन्हें ओढ़ने पर हम निरावरण हो जाते हैं और त्याग देने पर आडम्बर की कृत्रिम झिलमिलाहट हमारी देह क्षण भर जगमगा कर जाने कहाँ विलीन हो जाती है।

सच शायद इसीलिए बड़ा असहनीय होता है, क्योंकि वह आवरण उतारता है और इसीलिए समाज न सच को बरदाश्त कर पाता है, न सच को कहने वाले को। अपनी लज्जा को छुपाने के लिए इस समाज ने इस सत्य शोधक को इस सीमा तक भुलाने की कोशिश भी की कि हम आज इस जुलाहे के न बाप का नाम जानते हैं, न माँ का और यह भी नहीं कि उन्हें जलाया गया या दफनाया गया, वे कब और कहाँ जन्में, कब और कहाँ मरे। मग़र इतिहास का यही सच इस जुलाहे के जन्म की सार्थकता भी है। समाज ने जितना भुलाने की कोशिश की यह सच उतना ही प्रासंगिक होता गया।

कबीर अनाम मौत मरे, लेकिन अतीत और भविष्य के सच में अमर हो गए। सामाजिक विद्रूप का दुःशासन उनके वस्त्र छीन–छीन कर हार गया, लेकिन कबीर के सच का शील अक्षत रहा और आज भी है।

कबीर सत्य के शील का पर्याय हैं।

आमतौर पर कबीर को एक ऐसे विद्रोही के रूप में माना जाता है, जिसने तात्कालिक रूढ़ियों, मान्यताओं और छद्मों के ख़लिाफ बुलंदी के साथ आवाज़ उठा कर पाखंड में आकंठ डूबे समाज को चुनौती दी और एक ऐसे आन्दोलन को जन्म दिया, जो जागृति के द्वार खोल कर सामाजिक चेतना को एक नए धरातल पर खड़ा करता था। यह धरातल निर्गुण भक्ति का

आडम्बरहीन, सहज सुलभ–धरातल था, जिसकी सतह समान थी, जिस पर किसी भी तरह के आभिजात्य के कोई शीर्ष नहीं खड़े थे। इस धरातल की सतह पथरीली ज़रूर थी, लेकिन इतनी उर्वर थी कि जिसके गर्भ से सच्ची भक्ति की मोतिया मोगरे से गुंथी बेल फूटती थी। कबीर का यह प्रखर विद्रोही स्वरूप इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि साहित्य और समाज ने उनकी वाणी में उनके मान्यता भंजक रूप को ही प्रतिष्ठत कर दिया। कबीर की वाणी के धरातल पर सत्य के चुभने वाले कंकर समाज को तुरन्त नज़र आए, लेकिन वास्तव में कबीर सिर्फ सत्य के इन चुभते पाषाणों तक सीमित नहीं हैं। उनकी वाणी के धरातल की तह में करुणा की, प्रेम की वह नमी भी मौजूद है, जो मोतिया मोगरे की बेल को प्रस्फुटित करती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह आकलन पूर्णतः सत्य है कि "कबीरदास की वाणी वह लता है, जो योग के क्षेत्र में भक्ति का बीज पड़ने से अंकुरित हुई थी।" कबीर मूलतः तात्कालिक सूफी आध्यात्म से अनुप्राणित थे। वे अपने राम में, अपने साहेब में लीन रहते थे। उनकी प्रतीक्षा अनवरत थी। कैसे अपने बालम को पा जाएँ, यही उनकी खोज थी। उनका विरह शाश्वत था। एक सच्चे प्रेमी की तरह उनकी वेदना अथाह थी। उनकी करुणा इन पंक्तियों में बड़े सहज रूप में व्यक्त होती है।

बालम आओ हमारे गेहरे
तुम बिन दुखिया देह रे।

कबीर के चिन्तन का क्षितिज बड़ा अनोखा था और इस चिन्तन की यह अद्‌भुत विशेषता थी कि वह बड़े सहज ढंग से व्यक्त होता था। इतने सहज और सीधे ढँग से कि उसे किसी व्याख्या की बैसाखी की ज़रूरत नहीं होती थी। वह जिनके लिए था, उन्हीं के बीच, उन्हीं की वाणी में बोल उठता था और सीधे उस जनमानस की चेतना में उतर जाता था। उनके प्रतीक बड़े सहज थे, प्रतीक दिखने के लिए होते हैं, लेकिन कबीर के प्रतीक बोलते हैं। उनके इन प्रतीकों में करुणा झांकती हैं और प्रेम का निर्झर, झरता है। कबीर की चूनर भी एक ऐसा ही वाचाल प्रतीक है। यह चूनर बड़ी चमत्कारिक है। इसके साये में समूचा ब्रह्मांड समा जाता है, सृष्टि समा जाती है, जीवन समा जाता है, उसका विस्तार निस्सीम है। यह चूनर अपने लिए मौसम नहीं चुनती, देह नहीं चुनती, यह चूनर सनातन है, चिर नवीन है, चाँद और सूरज से टंकी इस चूनर पर कबीर बलिहारी हैं।

चुनरिया हमारी पिया ने संवारी
कोई पहिरे पिय की प्यारी।
आठ हाथ की बनी चुनरिया
पंच रंग पटियापारी।।
चाँद सुरूज जामें, आंचल लागे।
जगमग जोति उजारी।
बिनु ताने यह बनी चुनरिया।
दास कबीर बलिहारी।।

कबीर के पिया ऐसे रंगरेज हैं, जो उनकी चूनर को ऐसे रंग में रंगते हैं, जो कभी छूटता नहीं और कबीर भी अपने इस साहेब पर अपना सब कुछ न्यौछावर करने को तत्पर हैं। प्रेम का यह उत्कर्ष और भक्ति की यह अनूठी भंगिमा कबीर की वाणी को एक नूतन आयाम देती है। कबीर का यह भावबोध भक्ति की आध्यात्मिक परम्परा का अनूठा उदाहरण है। सूफी संतों ने जिस 'इश्के हक़ीक़ी' और 'इश्के मजाज़ी' को अपने काव्य में ढाला कबीर ने उसी 'इश्क़' की बानगी अपनी वाणी में दी। सूफियों के जो सिलसिले दसवीं शताब्दी से भारतीय इतिहास के अस्तित्व में आए और जिन सन्तों फक़ीरों ने अपने आपकों प्रियतमा मानकर अपना सर्वस्व अपने प्रियतम पर न्यौछावर कर दिया, कबीर इन्हीं सिलसिलों और इनसे जुड़े सूफी सन्तों की वाणी से गहरे प्रभावित थे। ये सूफी सन्त भी कट्टर इस्लामी मुल्लाओं और मौलवियों की दृष्टि में धर्मद्रोही क़रार दिये जाते रहे, उसी तरह कबीर भी कभी पंडितों और शास्त्रियों के अनुगामी नहीं बन पाए, बल्कि उनके विरोध में वे एक सशक्त और तार्किक आवाज़ बन कर उभरे। उनकी वाणी और व्यक्तित्व दोनों आडम्बरहीन थे और उनका मार्ग सीधा प्रेम और भक्ति का मार्ग था। अपने और अपने साहेब के बीच उन्हें कोई माध्यम आवश्यक नहीं था। उनका संवाद सीधा था, पीड़ा की अभिव्यक्ति सहज थी, मिलन की आकांक्षा और न मिल पाने का विरह उजागर था, आवृत्त कुछ था ही नहीं, कोई पूजा या कोई मूर्ति बीच में नहीं थी। अपने रंगरेज के रंग में वे ऐसे रंगे थे कि विह्वल होकर गा उठे।

साहेब हैं रंगरेज चुनरी मेरी रंग डारी।
स्याही रंग छुड़ाय के रे दियो मजीठा रंग।
धोये से छूटे नहीं रे दिन दिन होत सुरंग।।
भाव के कुंड नेह के जल में प्रेम रंग देई बोर।
दुख देह मैल लुटाय दे रे खूब रंगी झकझोर।।
साहिब ने चुनरी रंगी रे पीतम चतुर सुजान।
सब कुछ उन पर बार दूं रे तन मन धन और प्रान।।
कहैं कबीर रंगरेज पियारे मुझ पर हुए दयाल
सीतल चुनरी ओढ़ के रे भई हौं मगन निहाल।

कबीर की यह चूनर कोई ऐसी अनोखी चूनर नहीं, जिसमें दाग़ न लगे। चूनर के साथ दाग़ का अटूट रिश्ता है। चूनर ओढ़ी नहीं कि निगाहें पहिले दाग़ ढूँढ़ती हैं। अपनी चूनर खुद कोई नहीं देखता। आइने हैं ज़रूर मग़र हम उनमें अपने कम और दूसरों के कहीं ज़्यादा अक्स ढूँढ़ते हैं। अपना खुद का प्रतिबिंब देख लें और बाद में दूसरे के प्रतिबिंब की ख़ामियाँ ढूँढ़े, यह हमारी मानसिकता ही नहीं रही, क्योंकि हमारे खुद के ही प्रतिबिंब बड़े मलिन हैं। कबीर ने बड़ी कोशिश की थी, इन प्रतिबिंबों में झाँकने की, उन्हें पढ़ने की, उन्हें वाणी में पिरोने की। उनकी यह कोशिश इसलिए सार्थक थी, क्योंकि उनका खुद का प्रतिबिंब बड़ा उजला था। उनके खुद के व्यक्तित्व पर कोई आवरण ही नहीं था, कपाल पर कोई चंदन नहीं था, गले में कोई माला नहीं थी, तो उनका प्रतिबिंब मलिन होता भी कैसे ? उन्होंने तो जो

चादर ओढ़ी वह भी ज्यों–की–त्यों रख दी, इसलिए सिर्फ कबीर जैसा उजला पौरूष ही समाज के मलिन प्रतिबिंबों में झांकने की और उन्हें उजागर करने की कोशिश कर सकता था। लेकिन कबीर ने इस सामाजिक विद्रूप को उजागर करने के लिए अपने आपको भी नहीं बख्शा। उन्होंने अपनी चूनर को भी दाग़दार बताया और यह भी बताया कि वह उजली कैसी हो सकती है। यदि कबीर अपने आपको दांव पर लगाकर खुद प्रतीक नहीं बनते, तो बहुत संभव था कि तात्कालिक पंडित उन्हें मलिन बना देते। सामाजिक विसंगति को उजागर करने का यही सार्थक तरीक़ा था और आज भी है कि पहिले खुद अपने आप पर व्यंग्य करो, निरावृत करो स्वयं को, हंसो अपने आप पर और इसी प्रक्रिया का परिणाम यह होगा कि व्यंग्य व्यष्टि से समष्टि में बदल जाएगा। खुद पर किया गया व्यंग्य सारे समाज की विसंगति उजागर करेगा। व्यंग्य खुद व्यंग्यात्मक हो जाएगा, उन सबके लिए जो विसंगतियों के रूप में जीवंत हैं, साकार हैं।

इस मायने में भारतीय मनीषा की परम्परा में कबीर व्यंग्य के पहिले एकात्म और आदि पुरुष हैं। ऐसा निस्संग फक्कड़पन आज के हिन्दी व्यंग्य में सिर्फ परसाई में मौजूद है। कबीर और परसाई के बीच अगणित पीढ़ियों का अंतराल है और यह भी वास्तव में हमारे सामाजिक चरित्र का एक अनूठा व्यंग्य है। कबीर की इस दाग़दार चूनर की निराली बानगी देखें।

नैहर में दाग लगाय आय चुनरी।
ऊ रंगरेजवा के मरम न जाने।।
नहीं मिलै धोबिया कौन करे उजरी।
तन के कूंडी झान के सौंदन।।
साबुन महंग निचाय या नगरी।
पहिरि–ओढ़िके चली ससुररिया
गौंवां के लोग कहैं बड़ी फुहरी।
कहें कबीर सुनो भई साधो,
बिन सतगुरू कबहूँ नहिं सुधरी।

कबीर की चूनर के दाग़ सहज नहीं मिटते। चूनर भी अनोखी है और दाग़ भी। यह चूनर पाँच तत्वों की बनी हुई है, इन्हीं से रंगी है। इतनी अमूल्य चूनर को सहेज कर रखने वाला धन्य हैं। दयनीय है वे जो इसका मूल्य नहीं समझते और इसे मलिन करते हैं। एक बार मलिन हो जाने पर इसके दाग़ छूटने का कोई उपाय ही नहीं है। पश्चाताप करने पर भी कहीं दाग़ छूटते हैं। ये दाग़ तो अमिट हैं और तभी छूटेंगे, जब साहेब तुझे अपना लेगा।

मोरी चुनरी में परि गयो दाग पिया।
पांच तन्त की बनी चुनरिया, सोलह से बंद लागे जिया।
यह चुनरी मेरे मैके ते आई, ससुरा में मनुआं खोय दिया।
मलि मलि धोई दाग न छूटै, ग्यान को साबुन लाय पिया।
कहैं कबीर दाग न छुटिहैं, जब साहेब अपनाय लिया।

कबीर के विराट चिन्तन फलक पर उभरी इस चूनर की क्या तुलना हो सकती है? निरगुनिया रेशों से बुनी चूनर को कोई बाह्य दृष्टि मूल्यांकित नही कर सकती। कबीर ने बाह्य दृष्टि के द्वारा पूजे जाने वाले सारे उपादानों को अस्वीकार किया। यह बाहरी नज़र जिस मूर्तिमान ईश्वर को पूजती है उसका घोर विरोध उन्होंने किया। वे आजीवन उस अर्न्तदृष्टि के उपासक रहे, जो सच्चे अर्थों में विमल भक्ति से अपने निर्गुण परमात्मा की आराधना करती है। इस बाह्य दृष्टि पर सटीक व्यंग्य करते हुए उन्होंने कहा–

हीरा पाय परखि नहीं जानै, कौड़ी परखन करता है
कहत कबीर सुनो भई साधो, हरि जैसे को तैसा है।

उनकी दृष्टि बड़ी पैनी थी और वह सिद्ध अनुभव से उपजी थी, उनके निर्गुण राम गूंगे का गुड़ थे, जिसका अनुभव से ही आस्वादन किया जा सकता है। सगुण स्वरूप उन्हें भाया नहीं, क्योंकि इस स्वरूप में परिधान के मायावी बंधन होते हैं। हम इस भाषा में उलझ कर रह जाते हैं और सच्चे ईश्वर तक नहीं पहुँच पाते। निर्गुण राम तो केवल अनुभव की अनुभूति की छुअन हैं।

जो दीखै तो है वो नांही, है सो कहा न जाई
सैना बैना कहि सुमुझावो गूंगे का गुड़ भाई,

कबीर इस लिहाज़ से भी अपने आपमें मौलिक हैं कि उन्होंने जहाँ एक ओर दर्शन के अंर्तविरोधों को पकड़ा, वहीं दूसरी ओर पाखंड और छद्म आडम्बरों पर सीधी चोट की। उनका लक्ष्य सीधा था, जिसमें कोई दिशाहीनता नहीं थी। उनकी वाणी इतनी सरल और तार्किक थी कि जहाँ एक ओर वह लोकमानस की चेतना को सीधे झकझोरती थी, वहीं दूसरी ओर बड़े–बड़े पंडित और शास्त्री असहाय से उनके तर्क त्रिशूल के समक्ष नतमस्तक, निरूपाय खड़े रह जाते थे। कबीर भाषा के बादशाह थे। शब्द उनके भावों के सहज अनुगामी भर थे। इसलिए उनके चिन्तन की तीव्रता उनकी वाणी से ऐसी झरी जैसे किसी ऊँचे पर्वत शिखर से घोर निनाद करती जलधारा।

कबीर की यही विलक्षणता उन्हें कबीर बना गई। उन्हें न तौला जा सका, न ही उनकी तुलना की जा सकी। वे आजीवन जूझते रहे, लड़ते रहे, संघर्ष करते रहे और इसी संघर्ष को समर्पित भी हो गए, लेकिन उनकी व्याकुलता, उनकी बैचेनी बरक़रार रही।

एक चट्टान की तरह वे अडिग खड़े रहे। वे शुद्ध पत्थर की ऐसी चट्टान थे, जिसके तल में प्रेम और करुणा से ओत–प्रोत शक्ति की निर्झरिणी बहती थी। वे हिमालय की तरह नहीं थे, जो उत्तुंग भले हो, लेकिन जिसके शीर्ष गर्मी में पिघल जाते हैं।

कबीर का यही चट्टानी स्वरूप उन्हें लोकमानस में अमर कर गया।

आज भी गाँव की चौपालों पर ढलती सांझ के आंचल में हमारा लोकमानस पूरे समर्पित भाव से कबीर गाता है। वे वहाँ जीवित हैं, जहाँ उन्हें होना चाहिए। आभिजात्य ने कबीर को न

तो उनके समय में स्वीकार किया और न आज करता है। उनके निर्गुण राम किसी शिल्प के मोहताज नहीं हैं। वे तो मन मन्दिर के ऐसे गर्भगृह में विराजते हैं, जहाँ की दीवारें सत्य के आलोक से जगमगाती रहती हैं।

इसी मन मन्दिर में विराजे अपने प्रभु को ढूँढ़ने के लिए कबीर की भक्तिभरी अभिसारिका अपनी आरती सजा कर निकल पड़ी है, कबीर गा रहे हैं।

भींजै चुनरिया प्रेमरस बूंदन
आरती साज के चली है सुहागिन
प्रिय अपने को ढूंढ़न।